सिक्खों का उत्थान और पतन

अर्थात्

सिक्खों का संक्षिप्त इतिहास

"The great end of history is the exact illustration of events as they occured, and there should neither be exaggeration nor concealment, to suit angry feelings or personal disappointment. History should contain the truth, the whole truth and nothing but truth"-Calo Gurwod, in his celebrated work—The Despatches of the Duke of Wellington.

लेखक

नंदकुमारदेव शर्मा

चतुर्थ संस्करण] २००३

मुद्रक

ह० मा० सप्रे,

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस

निवेदन

"History is the light of truth and the teacher of life." —Cicero.

एक निर्जीव जाति के लिये इतिहास से बढ़कर और कोई दिव्य शक्ति नहीं है। जिस भाँति एक अंधा अपने हाथ की लकड़ी के सहारे मार्ग टटोलता है, वैसे ही स्वार्थ से अंधी जातियाँ इतिहास रूपी लकड़ी के सहारे अपनी उन्नति का पथ टटोल सकती हैं। गिरी हुई जातियों को उठाने के लिये, लुढ़कती पुढ़कती हुई जातियों को सावधान करने के लिये और उन्नति के शिखर पर विचरण करनेवाली जातियों को यथास्थान स्थिर रखने के लिये इतिहास से बढ़कर और कोई अमोघ शस्त्र नहीं है। जो जातियाँ अवनति के अन्धकूप में पड़ी हुई हैं, उनको अपने कर्त्तव्य का बोध कराने के लिये तो इतिहास ज्ञान रूपी प्रदीप है ही, परंतु जिन जातियों की उन्नति का सूर्य्य मध्याह्न पर पहुँच रहा है, उनको भी भविष्य-कर्त्तव्य-पथ सुझाने के लिये इतिहास से बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास में भारी शक्ति है। जिस भाँति पहाड़ की ऊँची चोटी पर चढ़ने के लिये लकड़ी के सहारे की आवश्यकता हुआ करती है, वैसे ही किसी गिरी हुई जाति को उठाने के लिये इतिहास की आवश्यकता हुआ करती है। इतिहास ही एक ऐसी शक्ति है, जिससे सूखी हड्डियों में भी रक्त की धारा बहने लग जाती है।

किसी-किसी विद्वान् का मत है कि किसी जाति अथवा देश का छिन जाना, उतना हानिकारक नहीं है जितना उसके इतिहास का नष्ट हो जाना है। यदि धीर गंभीर, स्थिर चित्त से विचार किया जाय तो वस्तुतः इस कथन में कुछ अत्युक्ति नहीं है। इतिहास का मूल्य किसी देश अथवा जाति की स्वतंत्रता से भी विशेष होता है। क्योंकि इतिहास के सहारे खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त हो सकती है, पर स्वतन्त्रता से नष्ट हुआ इतिहास प्राप्त नहीं हो सकता है। इस विचारवश ही जब कभी किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की सभ्यता नष्ट करनी होती है तब उसे पहले इतिहास और भाषा को नष्ट करने की सूझती है। यह एक माना हुआ सिद्धांत है कि जब कभी किसी राष्ट्र की सभ्यता नष्ट करनी हो तो उसकी भाषा और इतिहास को नष्ट कर दो। बस इससे बढ़ कर सभ्यता नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है।

जीवन की दौड़-धूप (Struggle for existence) में वे ही जातियाँ ठहर सकती हैं, जो अपना इतिहास रखती हों। "सब से भले मूढ, जिन्हें न व्यापे जगत गति" ऐसी स्वतंत्र और जंगली जातियाँ कदापि नहीं ठहर सकती हैं। क्या देखते नहीं हो? अफरीका के हबशी, जुलू, काफिर, हाटनटाट और आस्ट्रेलिया के वनमानसों को अपना इतिहास न होने से कैसी दशा हो रही है। उनका न तो कोई अपना इतिहास ही है, न साहित्य ही है, जिससे वे अपने भले बुरे का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकें। जिस जाति का अपना इतिहास नहीं है वह जाति कदापि भविष्य मे आनेवाली अपनी संतान के हृदय से अज्ञानांधकार को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकती है। राष्ट्रों के जीवन की दौड़-धूप मे बिना इतिहास के जीवित रहना कठिन ही नहीं, असंभव है। इसी लिये कहा जाता है

कि इतिहास एक अमूल्य संपत्ति है, साहित्य का एक आवश्यक अंग है। इतिहासशून्य साहित्य साहित्य नहीं है।

दुःख है कि हमारी हिंदी भाषा मे ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर प्रकाशकों का बहुत कम ध्यान गया है। यद्यपि यह बात नहीं है कि हमारा साहित्य-भांडार बिल्कुल ऐतिहासिक ग्रंथों से शून्य हो, तथापि अन्य विषयों के जितने ग्रंथ प्रचुरता से प्रकाशित होते हैं, उतने अर्थशास्त्र संबंधी तथा ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं होते हैं। इतिहास और अर्थशास्त्र के पंडितों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। हिंदी भाषा में साहित्य के इन दोनों आवश्यक अंगों की पूर्ति होना अत्यंत आवश्यक है। बस इस विचारवश ही यह क्षुद्र पुस्तक "सिक्खों का उत्थान और पतन" पाठकों की सेवा में भेंट की जाती है। यह कहा नहीं जा सकता कि इसमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है ?

इतिहास में सिक्ख जाति का स्थान बहुत ऊँचा है। भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास में एक महाराष्ट्रों को छोड़ कर और कोई दूसरी जाति इतना ऊँचा स्थान पा सकती है या नहीं इसमे संदेह है। सिक्खों का इतिहास कई बातों में महाराष्ट्रों से भी अद्भुत है। सिक्ख इतिहास की पूर्व और उत्तर दोनों पीठिकाएँ विचित्र घटनाओं से भरी हुई हैं। आरंभ में सिक्ख जाति एक मामूली धर्म संप्रदाय थी, परंतु थोड़े दिन पीछे ही उसे ऐसी-ऐसी कठिनाइयों से सामना करना पड़ा कि एक निरीह, शांत और धर्म का पिपासु दल बलवान योद्धा तक ही उसकी सीमा नहीं रही किंतु कई परिवर्तनों में होते हुए उसने एक ऐसा विशाल साम्राज्य स्थापित कर दिया जैसा पंजाब में

राजा अनंगपाल के पश्चात् कई शताब्दियों तक हिंदुओं का साम्राज्य देखने में नहीं आया था। फिर यही विशाल सिक्ख साम्राज्य पंजाब में अंतिम हिंदू साम्राज्य हुआ। थोड़े दिनों तक यही साम्राज्य बिजली की सी चमक दिखला कर लय हो गया। इसी लिये कहते हैं कि सिक्ख साम्राज्य की उत्तर पीठिका भी आश्चर्यदायक है। इन सब बातों के विचार करने से ही कहना पड़ता है कि भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास में सिक्ख जाति का बहुत ऊँचा स्थान है। जिस समय गुरु नानक ने सिक्ख मत प्रचलित किया था, उस समय सिक्ख मत के पूर्व, सिक्ख मत के साथ और सिक्ख मत के पीछे भी कितने ही धार्मिक संप्रदाय प्रचलित हुए थे; परंतु वे सब संप्रदाय कुछ ऐसी संकुचित सीमा तक रहे हैं, कि जिसके कारण इतिहास में उनका कोई विशेष गौरव नहीं है। सिक्ख संप्रदाय तथा उसके साथी संप्रदायों में केवल इतना ही भेद नहीं है किंतु सिक्ख संप्रदाय ने पंजाब से मुगल साम्राज्य के उखाड़ने पछाड़ने में बड़ा भारी काम किया है। सन् १८५७ में जिस समय सिपाही विद्रोह के कारण सारा देश काँप उठा था, उस समय सिक्खों ने अपनी असीम राजभक्ति और वीरता का परिचय देकर सिपाही विद्रोह के दमन करने में भाग लिया था। आज भी युरोप के महाभारत में सिक्ख सिपाही अपनी असीम वीरता का परिचय दे रहे हैं। वहाँ पर पिछली ४ थी और ५ वीं जून को गैलीपोली प्रायद्वीप में १४ वीं सिक्ख बटालियन ने जिस अद्भुत वीरता का परिचय दिया था उसका वर्णन ऐंग्लो-फ्रेंच सेनाओं के प्रधान सेनापति सर आयन हैमिल्टन ने भारत के सेनापति को भेजते समय वीर सिक्खों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। स्थान के संकोच के कारण हम उस वर्णन को यहाँ उद्धृत करने में असमर्थ हैं।

भारतवर्ष के प्रायः सभी समाचारपत्रों में वह वर्णन निकल चुका है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि इस वीरता के कारण ही सिक्ख जाति ने इतिहास में इतना ऊँचा स्थान पाया है। किंतु दुःख है कि जिस भाँति सिक्खों ने समय समय पर शस्त्रविद्या में अपूर्व कौशल प्रकट किया है वैसा उन्होंने अभी तक शास्त्र का अनुशीलन नहीं किया है। प्रत्येक जाति की शस्त्र और शास्त्र दोनों से ही रक्षा होती है। जब हम सिक्खों के अधःपतन की ओर ध्यान देते हैं तब तो हमको सिक्ख जाति में शास्त्र विद्या के अभाव का पूरा अनुभव होता है। जिस भाँति सिक्ख जाति रणविद्या में पंडित है, यदि उसी भाँति वह शास्त्र विद्या में पंडित होती तो आज संसार में शायद और कोई जाति सिक्ख जाति की समता न कर सकती। हर्ष है, सिक्ख जाति के मुखियों का ब्रिटिश शासन में इस कमी को दूर करने की ओर ध्यान गया है।

इस वक्तव्य को समाप्त करते हुए यह कह देना भी अनुचित न होगा कि सिक्ख हिंदुओं से जुदे नहीं हैं। हिंदुओं मे जितनी जातियाँ, उपजातियाँ और धार्मिक संप्रदाय प्रचलित हैं उनमें से एक सिक्ख भी हैं। सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक बाबा नानक तथा अन्य सब गुरु हिंदू ही थे। हिंदुओं की रक्षा के लिये सिक्ख धर्म की उत्पत्ति हुई थी, अनेक सिक्ख गण भी हिंदुओं के राम कृष्ण आदि देवताओं को मानते हैं। प्रायः सभी सिक्ख गोरक्षा के पक्षपाती तथा गंगा के भक्त होते हैं। मृत्यु हो जाने पर सिक्ख गण भी अपने शव का अग्निसंस्कार करते हैं। हिंदू और सिक्खों के और भी बहुत से रीति रिवाज मिलते जुलते हैं, तब कैसे कहा जा सकता है कि सिक्ख हिंदुओं से जुदे हैं? यह हमारा ही विश्वास नहीं है, किंतु सिक्खों के अनेक नेता भी

सिक्खों का हिंदुओं से अलग होना स्वीकार नहीं करते हैं। सन् १९१० में मुलतान में पंजाब हिंदू सभा का जो अधिवेशन हुआ, उसके सिक्ख सभापति महोदय ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए थे। पर दुःख है कि कभी-कभी कोई-कोई अदूरदर्शी सिक्खों को हिंदुओं से अलग बतलाने की चेष्टा करते हैं। सन् १९०९ ई० में स्वर्गीय महात्मा गोखले के प्रयत्न से कौंसिलों में जो सुधार हुआ था, उस समय मुसलमानों की भाँति कुछ अदूरदर्शी सिक्खों ने भी अपने अलग निर्वाचन की दुहाई मचाई थी। सच पूछिए तो ऐसी ऐसी बातों से न केवल सिक्खों और हिंदुओं की उन्नति में आघात पहुँचता है बल्कि इस प्रकार की बातों से भारतमाता की भावी उन्नति के पथ में भी काँटे रोपे जाते हैं। मेरा तो यह अटल विश्वास है कि यदि हम अपने देश की भलाई चाहते हैं तो सिक्ख और हिंदू तो क्या; हिंदू, पारसी, मुसलमान तथा उन अंग्रेजों और दूसरी युरोपियन जातियों को, जो यहाँ आकर बस गई हैं, भारतवर्ष को अपना देश समझना चाहिए। देश के स्वार्थ में सबको मिल कर चलना चाहिए। सब जातियों को, सब को भारत माता की संतान समझ कर अपना भाई समझना चाहिए, पर भारतमाता के दुर्भाग्यवश ऐसा विचार होना बहुत दूर है। यदि अन्य जातियाँ ऐसे विचार न करें तो कम से कम हिंदुओं की अनेक जातियों, उपजातियों, धार्मिक संप्रदायों को तो यह बात ध्यान मे अवश्य रखनी चाहिए। हम लोगों की वर्त्तमान परिस्थिति पर स्वर्गीय स्वनामधन्य स्वामी रामतीर्थ जी ने अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए, बहुत ठीक कहा है—"..........'मथुरा का एक कट्टर द्वैतवादी वैष्णव, दक्षिण के एक द्वैतवादी वैष्णव के लाभ के लिये क्या नहीं करता परंतु

वही वैष्णव अपने ही शहर के एक अद्वैतवादी वेदांती का मान भंग करने के लिये क्या उठा रखता है ? यह सारा दोष किसका है ? सब पंथों के पक्षपात और ऊपरी ज्ञान का ही यह दोष है।" वास्तव में मतमतांतर संबंधी कलहों के कारण ही हिंदू जाति की संघशक्ति में बड़ा भारी आघात पहुँच रहा है। हम लोगों का हृदय मतमतांतर सबंधी राग-द्वेष के कारण इतना मलिन हो रहा है कि हम एक दूसरे के गुणों को परखने तक में संकीर्णता का परिचय दिए बिना नहीं रहते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी धर्म के नाम पर परस्पर कलह मचा करता है, पर वहाँ के लोग देश का प्रश्न उपस्थित होते ही अपने सब धार्मिक विद्वेषों की तिलांजलि दे देते हैं। हमारे मुसलमान भाइयों में शीया सुन्नी का झगड़ा प्रति वर्ष हुआ करता है पर जब मुसलमान जाति के स्वार्थ का प्रश्न आता है तब वे आपस के धार्मिक विद्वेष को भूल जाते हैं। परंतु हिंदुओं में यह बात नहीं है । हिन्दुओं का प्रत्येक संप्रदाय अपनी बिखरी हुई शक्तियों के विस्तार करने में अपना बड़प्पन समझता है, जिसके कारण हिंदुओं की शक्ति नष्ट हो रही है । सिक्ख, आर्य-समाजी तथा अन्य हिंदू संप्रदाय को धर्मराज युधिष्ठिर के वे वाक्य स्मरण रखने चाहिएँ, जो उन्होंने चित्रसेन गंधर्व द्वारा दुर्योधनादि कौरवों के पकड़े जाने पर कहे थे—"ते शत हि वयं पंच परस्पर विवादने। परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पंचाधिकं शतं" अर्थात् "आपस में झगड़ा होने पर वे (कौरव) सौ और हम पाँच ही हैं, परंतु तीसरे से झगड़ा होने पर हमें एक सौ पाँच होना चाहिए"। परंतु दुःख है कि आज हिंदू, महाराज युधिष्ठिर के उस वाक्य को भूल गए हैं, जिसके कारण यह दुर्दिन

उपस्थित हो गया है। अब समय आ गया है कि भारतमाता के लालों को अपने यहाँ सांप्रदायिक और मतमतांतर संबंधी कलह न मचा कर शांतिपूर्वक अपने अपने धर्म के नियमों का पालन करते हुए, अनेक मतावलंबियों के साथ प्रेमपूर्वक चलते हुए, देशसेवा में जुटे रहना चाहिए। जितने संप्रदाय, जितने मत प्रचलित हैं, उन सबका निचोड़ केवल शांति और प्रेम है। उसी शांति और प्रेम का अवलंबन करना हम सब का कर्तव्य है। भारतमाता की सेवा से बढ़कर और कोई प्रेम नहीं है। आशा है इस निवेदन पर हमारे पाठक ध्यान देने की अवश्य कृपा करेंगे।

अंत में निवेदन है कि इस पुस्तक के लिखने की मेरी इच्छा, सन् १९०६ से हो रही थी और सन् १९०९ में जब मैं बाँकीपुर के पुराने हिंदी अखबार "बिहारबंधु" की सेवा परित्याग करके अपनी जन्मभूमि मथुरा गया था, तब मैंने इस पुस्तक को लिखना आरंभ किया था, और इसका प्रथम खंड समाप्त कर

"History of the Punjab, from the remotest antiquity to the present time." और कन्हैयालाल कृत उर्दू पुस्तक "पंजाब का इतिहास"। इसके अतिरिक्त आंशिक * रूप

---

* आंशिक रूप में जिन पुस्तकों से सहायता ली है उनके नाम—

(1) Court and Camp of Ranjit Singh
W. G. Osborne.

(2) विचित्र नाटक—गुरुमुखी।

(3) Origin of the Sikhs by H. T. Prinsep.

(4) History of the Sikhs by W. L. M'gregor.

(5) Thirty five years in the East by
J. M. Honighbergher.

(6) बंदा बहादुर—(गुरुमुखी)—खालसा एजेंसी, अमृतसर।

(7) Anecdotes from Sikh History.

(8) Ranjit Singh (Rulers of India) by
Sir Lepel Griffin K. C. S. I.

(9) Punjab Rajas & Punjab Chiefs by
Sir Lepel Griffin K. C. S. I.

(10) History of India by the Hon'ble
Mount Stuart Elphinstone.

(11) The Modern Review of July 1912.

(12) बाबू रजनीकांत गुप्त कृत—आर्यकीर्त्ति—(बंगला)

(13) The crisis of the Punjab by
Frederick Cooper.

(14) The Punjab and Delhi in 1857, by the
Revd. J. Brown.

उपस्थित हो गया है। अब समय आ गया है कि भारतमाता के लालों को अपने यहाँ सांप्रदायिक और मतमतांतर संबंधी कलह न मचा कर शांतिपूर्वक अपने अपने धर्म के नियमों का पालन करते हुए, अनेक मतावलंबियों के साथ प्रेमपूर्वक चलते हुए, देशसेवा में जुटे रहना चाहिए। जितने संप्रदाय, जितने मत प्रचलित हैं, उन सबका निचोड़ केवल शांति और प्रेम है। उसी शांति और प्रेम का अवलंबन करना हम सब का कर्तव्य है। भारतमाता की सेवा से बढ़कर और कोई प्रेम नहीं है। आशा है इस निवेदन पर हमारे पाठक ध्यान देने की अवश्य कृपा करेंगे।

अंत में निवेदन है कि इस पुस्तक के लिखने की मेरी इच्छा, सन् १९०६ से हो रही थी और सन् १९०९ में जब मैं बाँकीपुर के पुराने हिंदी अखबार "बिहारबंधु" की सेवा परित्याग करके अपनी जन्मभूमि मथुरा गया था, तब मैंने इस पुस्तक को लिखना आरंभ किया था, और इसका प्रथम खंड समाप्त कर भी लिया था, पर कई अनिवार्य्य कारणों से उस समय मैं और नहीं लिख सका। पुनः इसका आरम्भ मैंने सन् १९१३ में किया तब मुझे पता लगा कि पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर गोकुलचंद्र नारंग का गवेषणापूर्ण ग्रंथ "The Transformation of Sikhism" प्रकाशित हुआ है। मैंने इस ग्रंथ को पढ़ा तो मुझे अपने लिखे हुए कई स्थानों में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि मैंने आंशिक रूप में कई ग्रंथों से सहायता ली है, परंतु चार मुख्य ग्रंथों के आधार पर यह पुस्तक लिखी है—Cunningham's "History of Sikhs", "डाक्टर गोकुलचंद कृत The Transformation of Sikhism", सय्यद मुहम्मद लतीफ कृत

"History of the Punjab, from the remotest antiquity to the present time." और कन्हैयालाल कृत उर्दू पुस्तक "पंजाब का इतिहास"। इसके अतिरिक्त आंशिक * रूप

---

* आंशिक रूप में जिन पुस्तकों से सहायता ली है उनके नाम—

(1) Court and Camp of Ranjit Singh
W. G. Osborne.

(2) विचित्र नाटक—गुरुमुखी।

(3) Origin of the Sikhs by H. T. Prinsep.

(4) History of the Sikhs by W. L. M'gregor.

(5) Thirty five years in the East by
J. M. Honighbergher.

(6) बंदा बहादुर—(गुरुमुखी)—खालसा एजेंसी, अमृतसर।

(7) Anecdotes from Sikh History.

(8) Ranjit Singh (Rulers of India) by
Sir Lepel Griffin K. C. S. I.

(9) Punjab Rajas & Punjab Chiefs by
Sir Lepel Griffin K. C. S. I.

(10) History of India by the Hon'ble
Mount Stuart Elphinstone.

(11) The Modern Review of July 1912.

(12) बाबू रजनीकांत गुप्त कृत—आर्यकीर्ति—(बंगला)

(13) The crisis of the Punjab by
Frederick Cooper.

(14) The Punjab and Delhi in 1857, by the
Revd. J. Brown.

उपस्थित हो गया है। अब समय आ गया है कि भारतमाता के लालों को अपने यहाँ सांप्रदायिक और मतमतांतर संबंधी कलह न मचा कर शांतिपूर्वक अपने अपने धर्म के नियमों का पालन करते हुए, अनेक मतावलंबियों के साथ प्रेमपूर्वक चलते हुए, देशसेवा में जुटे रहना चाहिए। जितने संप्रदाय, जितने मत प्रचलित हैं, उन सबका निचोड़ केवल शांति और प्रेम है। उसी शांति और प्रेम का अवलंबन करना हम सब का कर्तव्य है। भारतमाता की सेवा से बढ़कर और कोई प्रेम नहीं है। आशा है इस निवेदन पर हमारे पाठक ध्यान देने की अवश्य कृपा करेंगे।

अंत में निवेदन है कि इस पुस्तक के लिखने की मेरी इच्छा, सन् १६०६ से हो रही थी और सन् १६०६ में जब मैं बाँकीपुर के पुराने हिंदी अखबार "बिहारबंधु" की सेवा परित्याग करके अपनी जन्मभूमि मथुरा गया था, तब मैंने इस पुस्तक को लिखना आरंभ किया था, और इसका प्रथम खंड समाप्त कर भी लिया था, पर कई अनिवार्य्य कारणों से उस समय मैं और नहीं लिख सका। पुनः इसका आरंभ मैंने सन् १६१३ में किया तब मुझे पता लगा कि पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर गोकुल-चंद्र नारंग का गवेषणापूर्ण ग्रंथ "The Transformation of Sikhism" प्रकाशित हुआ है। मैंने इस ग्रंथ को पढ़ा तो मुझे अपने लिखे हुए कई स्थानों में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि मैंने आंशिक रूप में कई ग्रंथों से सहायता ली है, परंतु चार मुख्य ग्रंथों के आधार पर यह पुस्तक लिखी है—Cunningham's "History of Sikhs", "डाक्टर गोकुलचंद कृत The Transformation of Sikhism", सय्यद मुहम्मद लतीफ कृत

विषय सूची

में कई पुस्तकों से सहायता की है, जिन सब के लेखकों को हार्दिक धन्यवाद है।

पाठकों को इस पुस्तक में जो कुछ भूल चूक प्रतीत हो, उसको केवल क्षमा ही न करें, किंतु लेखक को सूचित करने की भी कृपा करें, जिससे दूसरे संस्करण में उसका संशोधन कर दिया जाय।

४२ शिव ठाकुर की गली
कलकत्ता।
भाद्र शु० १२ सं० १९७२
१०-९-१५

निवेदक
नंदकुमारदेव शर्मा

सिक्खों का उत्थान और पतन



प्रस्तावना

भारत माता की पुकार

"कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हाहा होइ अनाथ
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुख जात
दीन बन्यौ इतसों उत डोलत टकरावत निज माथ
दिन दिन विपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ
सब विधि दुख सागर में डूबत धाइ उबारो नाथ ॥

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

जिस समय सिक्ख मत के प्रवर्त्तक बाबा नानक भारत की रंगभूमि पर आए थे, उस समय केवल पंजाब की ही नहीं—समस्त भारतवर्ष की, कन्या-कुमारी से लेकर हिमालय तक और श्रीजगन्नाथपुरी से सीमाप्रांत तक, विचित्र गति हो रही थी। हिंदुओं की उन्नति का सूर्य्य अस्त हो चुका था। स्वाधीनता देवी हिंदुओं से रूठ रही थीं। एकता के मधुर एवं स्वादिष्ट फल से हिंदू वंचित हो चुके थे। राष्ट्रीय भाव

चतुर्थ खंड

पंचम खंड



सिक्खों का उत्थान और पतन



प्रस्तावना

भारत माता की पुकार

"कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हाहा होइ अनाथ
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुख जात
दीन बन्यौ इतसों उत डोलत टकरावत निज माथ
दिन दिन विपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ
सब विधि दुख सागर में डूबत धाइ उबारो नाथ ॥

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

जिस समय सिक्ख मत के प्रवर्त्तक बाबा नानक भारत की रंगभूमि पर आए थे, उस समय केवल पंजाब की ही नहीं—समस्त भारतवर्ष की, कन्या-कुमारी से लेकर हिमालय तक और श्रीजगन्नाथपुरी से सीमाप्रांत तक, विचित्र गति हो रही थी। हिंदुओं की उन्नति का सूर्य्य अस्त हो चुका था। स्वाधीनता देवी हिंदुओं से रूठ रही थीं। एकता के मधुर एवं स्वादिष्ट फल से हिंदू वंचित हो चुके थे। राष्ट्रीय भाव

हिंदुओं में से उड़ चुके थे। भाई, भाई का अपमान करने में ही अपना गौरव और आत्माभिमान समझता था। भारत की तत्कालीन और वर्त्तमान राजधानी दिल्ली पर मुसलमानों की विजय-पताका फहरा रही थी। दृष्टद्वती के किनारे पर हिंदुओं की विजय-पताका भूमि में लोट चुकी थी। विजय के साथ ही सब संपदाओं का निवास रहता है, अतएव विजय-पताका के लोटने के साथ ही साथ हिंदुओं के धर्म, कर्म सब पर पानी फिर चुका था। यवनों के पदाघात से हिंदुओं की देवमूर्तियों और देवमंदिरों की दुर्गति हो रही था। हिंदुओं की परम पूजनीय गोमाता की विडंबना हो रही थी। आर्य ललनाओं के अमूल्य रत्न सतीत्व तक के नष्ट करने की चेष्टा की जा रही थी। अनेक हिंदुओं को जबरदस्ती से इस्लाम मत की दीक्षा दी जा रही थी। हिंदू समाज निर्जीव हो गया था। उसमें आशा की ज्योति बुझ चुकी थी, चारों ओर निराशा ही निराशा प्रतीत होती थी, हिंदू समाज का उस समय कोई सहायक प्रतीत नहीं होता था। हिंदुओं के धर्मग्रंथ तथा उनकी अन्यान्य पुस्तकें जला कर उनकी सभ्यता मटियामेट की जा रही थी। उस समय भारतवर्ष में एक प्रकार से गदर मच रहा था। धर्म के नाम पर अनेक मत मतांतर प्रचलित हो चुके थे। सामाजिक स्थिति में "जिस की लाठी, उसकी भैंस" वाली कहावत सिद्धांत रूप में परिणत हो गई थी। जो बलवान थे, वे दुर्बलों पर अत्याचार करने में कुछ बुराई नहीं समझते थे। सर्व साधारण ही "जिस की लाठी, उसकी भैंस" के शिकार नहीं बने हुए थे, किंतु दिल्ली के राजसिंहासन के विषय में "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" वाली कहावत काम में लाई जाती थी। मुसलमानों का एक खानदान दूसरे

खानदान से राजसिंहासन झपटने के लिये चेष्टा करता था। "हथिनी सी लक्ष्मी विचल इत उत झोंका खाय"—ठीक यही दशा दिल्ली के राजसिंहासन की हो रही थी। हिंदुओं में संघ-शक्ति बिलकुल नहीं रही थी, वे आपस में एक दूसरे के खून चूसने में ही बड़प्पन समझते थे, उस समय स्वर्गभूमि भारत में भी अनेक नारकीय दृश्य उपस्थित हो रहे थे। स्वर्ण-भूमि भारत श्मशान-भूमि हो रही थी। उस समय आर्यों की आदि भूमि पंचनद में तो अत्याचारों की मात्रा बहुत ही बढ़ी हुई थी। भारत माता अपने एक ऐसे पुत्र की बाट जोह रही थी, जो उसके दुःखों, यंत्रणाओं को दूर करने की चेष्टा करे, जो अशांति की प्रचंड ज्वाला को दूर कर के, शांति का राज्य स्थापन करे, और भारत माता के पुत्रों को अपना कर्त्तव्य सुझावे। आईए! पाठक!! आईए!!! देखें ऐसे बुरे समय में पंजाब के एक साधारण खत्री के पुत्र ने भारत माता के दुःखों के दूर करने का क्या प्रयत्न किया था?

———

प्रथम खण्ड

(१) गुरु नानक का उद्देश्य

"तत्व सिञ्चन्न मृतेन तो यद् ! कुतोऽप्या विष्कृतो वेधसा"

——जगन्नाथ ।

राष्ट्रों और देशों के उत्थान और पतन की कोई सीधी रेखा नहीं है। उन्नति की दौड़ धूप में न मालूम किस समय कौन सी जाति और देश का सौभाग्य सितारा चमक उठे और कौन सी जातियाँ और देश अवनति के अंधकूप मे गिर जायें। इतिहास इसकी साक्षी है कि संसार में कितने ही देश उठे और गिर गए, कितनी ही जातियाँ बनीं और बिगड़ गईं, कितने ही राज्य जमे और उखड़ गए, आज उनका नाम निशान तक भी नहीं है। पत्थरों के खंभों, मीनारों और दीवालों के अतिरिक्त उनके कोई चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते हैं। चीन की बड़ी दीवाल, बड़े बड़े बहादुर बादशाहों की कब्रों पर चौकीदारी का काम कर रही है। मिश्र की प्राचीन सभ्यता कहाँ है ? मीनार मिस्र (मिश्र लाट) प्राचीन सभ्यता का पता देती हुई, अब तक मिस्र के राजा महाराजाओं के मसाले भरे मृतक शरीर को दबाए हुए खड़ी हैं। रोम और यूनान की प्राचीन सभ्यता काल के गाल में विलीन हो गई है। पर पाँच हजार वर्ष के बूढ़े भारत पर अनेक विपत्तियाँ आईं, उसने बड़े बड़े चढ़ाव उतराव देखे। उसे पाँच हजार वर्ष से बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। परंतु अभी तक प्रबल आंधी के झकोरे खाने पर भी बूढ़ा भारत क्यों जीवित है ? यह एक प्रश्न है, जो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के

मस्तिष्क में युरोपियन महाभारत का संग्राम मचाता है। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि हिंदू जाति के अब तक जीवित रहने का कारण, समय समय पर महात्मा नानक जैसे महापुरुषों का होना ही है। यदि समय समय पर महात्मा नानक जैसे महापुरुष उत्पन्न न होते तो संभव है कि आज हिंदू जाति का भी नाम निशान मिट जाता और बूढ़ा हिमालय केवल जाति के नाम पर आँसु बहाते हुए ही दिखलाई पड़ता। परंतु परमात्मा को यह स्वीकार नहीं था। जिस समय कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र भारतवर्ष मे अधकार छा रहा था, उस समय बाबा नानक ने ही पंजाब में ज्ञानरूपी सूर्य्य की ज्योति प्रकाश की थी। पंजाब निवासियों के हृदय से जो ज्ञानरूपी खेती सूख गई थी, उसका सिंचन बाबा नानक के मेघरूपी सदुपदेशों ने ही किया था।

महात्मा नानक का जन्म सन् १४६६ ई० में लाहौर से दस मील की दूरी पर तिलौंडी गाँव में हुआ था। यह गाँव रावी नदी के तट पर बसा हुआ है। बाबा नानक के समय में दिल्ली के राजसिंहासन से लोदी वंश हट चुका था। मुग़ल साम्राज्य की नींव जमानेवाले परम प्रतापी बाबर दिल्ली के राजसिंहासन पर अपनी ध्वजा फहरा चुके थे।

बाबा नानक की बाल्यावस्था की बड़ी बड़ी अद्भुत कथाएँ हैं। उनके जीवन का वृत्तांत बड़ा मनोरंजक है। परंतु यहाँ पर हमको उनका विस्तृत जीवन लिखने का प्रयोजन नहीं है। केवल इतना ही कहना है कि उनका उद्देश्य अत्युच्च और पवित्र था। वे हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक धर्म संबंधी मतभेद को दूर करना चाहते थे। वे चाहते थे कि हिंदू, मुसलमान आपस में प्रेमपूर्वक रहें, पर दुर्भाग्यवश बाबा नानक को इसमें

विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसमें संदेह नहीं कि बाबा नानक प्रतिभाशाली थे। हिंदू, मुसलमानों में धर्म संबंधी जो आडंबर प्रचलित थे उनका उन्होंने बड़े युक्तिपूर्वक खंडन किया है। यद्यपि वे विद्वान् नहीं थे, तथापि उनके खंडन करने का ढंग बड़ा विलक्षण तथा ऐसा होता था, जिससे साधारण व्यक्ति से लेकर विद्वान तक को उत्तर देते नहीं बनता था। उन्होंने हिंदुओं के धार्मिक और सामाजिक विषयों में कुछ सुधार भी किए थे। बाबा नानक के सदुपदेशों का सारांश यही है कि मनुष्य मात्र, परमात्मा के यहाँ बराबर हैं। उसके यहाँ कोई छोटा या बड़ा नहीं है। सब मनुष्य भाई हैं, परमात्मा सबके पिता हैं। सबको आपस में न्याय और प्रेम का बर्त्ताव करना चाहिए। गुरु नानक ने मुसलमानों के धर्मोन्माद के विरुद्ध भी बड़ी दृढ़ता के साथ अपने विचार प्रकट किए थे। वे अत्यंत करुणात्मक शब्दों में हिंदुओं के दुखों को प्रकट किया करते थे—"समय कटार के समान है, शासक हत्यारे हैं। धर्म, पक्षियों के समान पर लगा कर उड़ गया है। असत्य की अंधेरी सबके ऊपर शासन कर रही है। सत्य रूपी चंद्रमा किसी को दिखलाई नहीं पड़ता है।" इस तरह से गुरु नानक ने नवीन भाव (new spirit) हिंदुओं में उत्पन्न कर दिए थे। जो लोग केवल वैराग्य वैराग्य चिल्ला चिल्ला कर हिंदू समाज को निर्जीव बना रहे थे, उनको बाबा नानक ने अपने वचन और क्रिया से बतलाया कि मनुष्य, गृहस्थ रहते हुए भी, अपना कर्त्तव्य पालन करने से सच्चा त्यागी और वैरागी रह सकता है। उस समय के हिंदुओं को बाबा नानक ने मानसिक मुक्ति प्रदान की थी। उन्होंने लोगों में यह भाव उत्पन्न कर दिया था, कि मनुष्य अपनी बुद्धि और विवेक का दास है। इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं कि बाबा नानक के उपदेशों से हिंदू

मस्तिष्क में युरोपियन महाभारत का संग्राम मचाता है। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि हिंदू जाति के अब तक जीवित रहने का कारण, समय समय पर महात्मा नानक जैसे महापुरुषों का होना ही है। यदि समय समय पर महात्मा नानक जैसे महापुरुष उत्पन्न न होते तो संभव है कि आज हिंदू जाति का भी नाम निशान मिट जाता और बूढ़ा हिमालय केवल जाति के नाम पर आँसु बहाते हुए ही दिखलाई पड़ता। परंतु परमात्मा को यह स्वीकार नहीं था। जिस समय कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र भारतवर्ष में अंधकार छा रहा था, उस समय बाबा नानक ने ही पंजाब में ज्ञानरूपी सूर्य्य की ज्योति प्रकाश की थी। पंजाब निवासियों के हृदय से जो ज्ञानरूपी खेती सूख गई थी, उसका सिंचन बाबा नानक के मेघरूपी सदुपदेशों ने ही किया था।

महात्मा नानक का जन्म सन् १४६६ ई० में लाहौर से दस मील की दूरी पर तिलौंड़ी गाँव में हुआ था। यह गाँव रावी नदी के तट पर बसा हुआ है। बाबा नानक के समय में दिल्ली के राजसिंहासन से लोदी वंश हट चुका था। मुग़ल साम्राज्य की नींव जमानेवाले परम प्रतापी बाबर दिल्ली के राजसिंहासन पर अपनी ध्वजा फहरा चुके थे।

बाबा नानक की बाल्यावस्था की बड़ी बड़ी अद्भुत कथाएँ हैं। उनके जीवन का वृत्तांत बड़ा मनोरंजक है। परंतु यहाँ पर हमको उनका विस्तृत जीवन लिखने का प्रयोजन नहीं है। केवल इतना ही कहना है कि उनका उद्देश्य अत्युच्च और पवित्र था। वे हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक धर्म संबंधी मतभेद को दूर करना चाहते थे। वे चाहते थे कि हिंदू, मुसलमान आपस में प्रेमपूर्वक रहें, पर दुर्भाग्यवश बाबा नानक को इसमें

विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसमे संदेह नहीं कि बाबा नानक प्रतिभाशाली थे। हिंदू, मुसलमानों में धर्म संबंधी जो आडंबर प्रचलित थे उनका उन्होंने बड़े युक्तिपूर्वक खंडन किया है। यद्यपि वे विद्वान् नहीं थे, तथापि उनके खंडन करने का ढंग बड़ा विलक्षण तथा ऐसा होता था, जिससे साधारण व्यक्ति से लेकर विद्वान तक को उत्तर देते नहीं बनता था। उन्होंने हिंदुओं के धार्मिक और सामाजिक विषयों में कुछ सुधार भी किए थे। बाबा नानक के सदुपदेशों का सारांश यही है कि मनुष्य मात्र, परमात्मा के यहाँ बराबर हैं। उसके यहाँ कोई छोटा या बड़ा नहीं है। सब मनुष्य भाई हैं, परमात्मा सबके पिता हैं। सबको आपस में न्याय और प्रेम का बर्त्ताव करना चाहिए। गुरु नानक ने मुसलमानों के धर्मोन्माद के विरुद्ध भी बड़ी दृढ़ता के साथ अपने विचार प्रकट किए थे। वे अत्यंत करुणात्मक शब्दों में हिंदुओं के दुखों को प्रकट किया करते थे—"समय कटार के समान है, शासक हत्यारे हैं। धर्म, पक्षियों के समान पर लगा कर उड़ गया है। असत्य की अंधेरी सबके ऊपर शासन कर रही है। सत्य रूपी चंद्रमा किसी को दिखलाई नहीं पड़ता है।" इस तरह से गुरु नानक ने नवीन भाव (new spirit) हिंदुओं में उत्पन्न कर दिए थे। जो लोग केवल वैराग्य वैराग्य चिल्ला चिल्ला कर हिंदू समाज को निर्जीव बना रहे थे, उनको बाबा नानक ने अपने वचन और क्रिया से बतलाया कि मनुष्य, गृहस्थ रहते हुए भी, अपना कर्त्तव्य पालन करने से सच्चा त्यागी और वैरागी रह सकता है। उस समय के हिंदुओं को बाबा नानक ने मानसिक मुक्ति प्रदान की थी। उन्होंने लोगों में यह भाव उत्पन्न कर दिया था, कि मनुष्य अपनी बुद्धि और विवेक का दास है। इसमें अणुमात्र भी सदेह नहीं कि बाबा नानक के उपदेशों से हिंदू

समाज में जागृति हो गई थी। इसमें संदेह है कि यदि पंजाब में बाबा नानक न होते तो वहाँ के निर्जीव हिंदुओं में कोई नवीन शक्ति संचारित होती कि नहीं और यह भी संदेह है कि यदि बाबा नानक पंजाब में न हुए होते तो वहाँ हिंदू नरेश राजा अनंगपाल के स्वाधीन राज्य के नष्ट होने के पश्चात् पंजाबकेसरी महाराज रणजीत सिंह का स्वतंत्र राज्य स्थापित होता या नहीं। यद्यपि गुरु नानकदेव ने अपने जीवन काल में कभी कोई राज्यादि स्थापन करने की लालसा प्रकट नहीं की थी, उन्होंने उस समय के हिंदू, मुसलमानों में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार करने तथा धार्मिक और सामाजिक सुधार मे ही अपनी शक्ति लगाई थी, तथापि उन्होंने जो अंकुर पंजाब की भूमि में बोया था, वह काल की क्रमोन्नति पाकर गुरु गोविंद सिंह के समय में "खालसा" रूपी महावृक्ष बन गया और उसी का फल महाराज रणजीत सिंह का स्वतंत्र राज्य था।

(२) सिक्खमत का संगठन

"For things can never go badly wrong
If the heart be true and the love be strong;
For the mist, if it comes, and the weeping rain
Will be changed by love into sunshine again."

गुरु नानक चल बसे, उनका कार्य अधूरा रह गया। यद्यपि उनका देहांत ७० वर्ष की अवस्था में हुआ था, तथापि विशाल पंजाब प्रांत में जो अंधकार छा रहा था, उसको दूर करने के लिये महात्मा नानक से संचालित कार्य्यरूपी सूर्य्य की आवश्यकता थी। महात्मा नानक कोई स्वतंत्र मत स्थापित करना नहीं चाहते थे पर साथ ही दूरदर्शी नानक यह भी नहीं चाहते थे कि उन्होंने जिस कार्य्य का बीड़ा उठाया है वह अधूरा रह जाय, इसलिये उन्होंने अपने शिष्य, अंगद को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। अंगद जाति के खत्री थे, उनका पूर्व नाम लहना था। इसमें भी गुरु नानक की उदारता थी कि उन्होंने अपने लड़कों मे से किसी को गद्दी पर न बिठला कर अपने एक योग्य शिष्य को उत्तराधिकारी बनाया। अनेक लोगों का मत है कि शिष्य का अपभ्रंश ही सिख वा सिक्ख है। गुरु नानक अपने चेलों को शिष्य, सिख वा सिक्ख कहते थे, जिससे बाबा नानक के शिष्यों का समूह ही सिक्ख कहलाया जाने लगा। चाहे जो कुछ हो, पर यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकेगा कि गुरु नानक का व्यवहार निष्कपट था, वे आडंबर-प्रिय नहीं थे, उन्होंने हिंदुओं के जाति पाँति आदि के बंधन शिथिल करने का प्रबल प्रयत्न किया था। वे वेदांती थे पर उनका वेदान्त आलसी बनानेवाला न था। स्वामी रामतीर्थ

समाज में जागृति हो गई थी। इसमें संदेह है कि यदि पंजाब में बाबा नानक न होते तो वहाँ के निर्जीव हिंदुओं में कोई नवीन शक्ति संचारित होती कि नहीं और यह भी संदेह है कि यदि बाबा नानक पंजाब में न हुए होते तो वहाँ हिंदू नरेश राजा अनंगपाल के स्वाधीन राज्य के नष्ट होने के पश्चात् पंजाबकेसरी महाराज रणजीत सिंह का स्वतंत्र राज्य स्थापित होता या नहीं। यद्यपि गुरु नानकदेव ने अपने जीवन काल में कभी कोई राज्यादि स्थापन करने की लालसा प्रकट नहीं की थी, उन्होंने उस समय के हिंदू, मुसलमानों में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार करने तथा धार्मिक और सामाजिक सुधार में ही अपनी शक्ति लगाई थी, तथापि उन्होंने जो अंकुर पंजाब की भूमि में बोया था, वह काल की क्रमोन्नति पाकर गुरु गोविंद सिंह के समय में "खालसा" रूपी महावृक्ष बन गया और उसी का फल महाराज रणजीत सिंह का स्वतंत्र राज्य था।

---

(२) सिक्खमत का संगठन

"For things can never go badly wrong
If the heart be true and the love be strong;
For the mist, if it comes, and the weeping rain
Will be changed by love into sunshine again."

गुरु नानक चल बसे, उनका कार्य अधूरा रह गया। यद्यपि उनका देहांत ७० वर्ष की अवस्था में हुआ था, तथापि विशाल पंजाब प्रांत में जो अंधकार छा रहा था, उसको दूर करने के लिये महात्मा नानक से संचालित कार्य्यरूपी सूर्य्य की आवश्यकता थी। महात्मा नानक कोई स्वतंत्र मत स्थापित करना नहीं चाहते थे पर साथ ही दूरदर्शी नानक यह भी नहीं चाहते थे कि उन्होंने जिस कार्य्य का बीड़ा उठाया है वह अधूरा रह जाय, इसलिये उन्होंने अपने शिष्य, अंगद को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। अंगद जाति के खत्री थे, उनका पूर्व नाम लहना था। इसमें भी गुरु नानक की उदारता थी कि उन्होंने अपने लड़कों में से किसी को गद्दी पर न बिठला कर अपने एक योग्य शिष्य को उत्तराधिकारी बनाया। अनेक लोगों का मत है कि शिष्य का अपभ्रंश ही सिख वा सिक्ख है। गुरु नानक अपने चेलों को शिष्य, सिख वा सिक्ख कहते थे, जिससे बाबा नानक के शिष्यों का समूह ही सिक्ख कहलाया जाने लगा। चाहे जो कुछ हो, पर यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकेगा कि गुरु नानक का व्यवहार निष्कपट था, वे आडंबर-प्रिय नहीं थे, उन्होंने हिंदुओं के जाति पाँति आदि के बंधन शिथिल करने का प्रबल प्रयत्न किया था। वे वेदांती थे पर उनका वेदान्त आलसी बनानेवाला न था। स्वामी रामतीर्थ

और स्वामी विवेकानंद के समान उनका वेदान्त आलस्य छुड़ाने वाला और क्रियाशील बनानेवाला था। इसी लिये उन्होंने अपने एक शिष्य को अपना काम चलता रखने के लिये उत्तराधिकारी बनाया था।

गुरु नानक अपने जीवन के अंतिम दिनों में पंजाब के कर्त्तारपुर नामक एक गाँव में रहते थे। वहाँ सहस्रों हिंदू उनके सदुपदेशामृत से लाभ उठाने के लिये आया करते थे, पर जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि गुरु नानक की इच्छा हिंदुओं में रहते हुए ही—हिंदुओं के सुधार करने की थी—हिंदुओं से वे अलग समाज संगठन करना नहीं चाहते थे। पर गुरु अंगद ने देखा कि गुरु नानक के विचारों को अच्छा समझते हुए भी लोग कार्य में परिणत नहीं करते हैं। तब उन्होंने निम्न तीन बातें कीं, जिससे सिक्ख समाज के प्रथम संगठन की नींव पड़ी।

(१) * उन्होंने सबसे पहले गुरुमुखी अक्षरों की रचना की

---

* लाहौर के बैरिस्टर-एट ला डाक्टर गोकुलचन्द एम० ए० पी० एचडी० अपनी पुस्तक "The Transformation of Sikhism" में लिखते हैं—"इस लिपि ने पुरोहितों के प्रभुत्व को भी एक प्रबल हानि पहुँचाई थी। इस नई लिपि के चलाने का कारण यही था कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व घटे।" डाक्टर साहब यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रीयता में इस लिपि पर विघ्न पहुँचाने का आक्षेप किया जा सकता है, पर वे साथ ही यह कहते हैं—गुरुमुखी अक्षर सुगम हैं, अन्य भाषाओं के अक्षरों से जल्दी लिखे जा सकते हैं। उक्त डाक्टर साहब का कथन है कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व नष्ट करने का इससे उत्तम

थी, (२) गुरु नानक का चरित्र तथा बाणियों का संग्रह था, (३) एक लंगर अर्थात् एक बिना मूल्य भंडारा देना अथवा भोजनगृह का स्थापन करना था।

गुरुमुखी अक्षरों के प्रचलित होने से पंजाब निवासियों को एक सुविधा भी हुई कि जो लोग संस्कृत नहीं पढ़ सकते थे, उन्होंने इस लिपि को सीखना आरंभ किया। वे लोग इस लिपि में लिपिबद्ध गुरु नानक के चरित्र तथा बाणियों के संग्रह को प्रसन्नतापूर्वक पढ़ने लगे। पंजाब में पढ़ने लिखने की चर्चा बढ़ने लगी। बाला नामक एक मनुष्य गुरु नानक के साथ रहता था, उसने गुरु अंगद को गुरु नानक का समस्त जीवन वृत्तांत तथा उनकी मनोरंजक यात्राओं का वर्णन लिखाया था, जिससे यह ग्रंथ सर्वप्रिय हो गया।

लंगर से भी सिक्ख मत के प्रचार में विशेष सहायता मिली थी। गुरु नानक ने भी लंगर स्थापित कर रखा था। गुरु अंगद ने इसकी और अधिक उन्नति की। ईसाइयों के स्थापित अनाथालय, अस्पताल, आश्रम तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं के समान इस लंगर से भूखे, अनाथ लोगों को न सिर्फ भोजन ही मिलता किंतु इसके द्वारा सिक्ख मत की ख्याति हुई। इसके कारण सिक्ख मत की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इस लंगर में भोजन करते समय सब मनुष्य एक ही पंक्ति में बैठते थे। जाति पाँति

उपाय सोचा जाना असंभव था और यदि इस समय तक भी सिक्खों तक में ब्राह्मण उत्तम समझे जाते हैं तो इसका कारण ब्राह्मणों की स्वाभाविक श्रेष्ठता है। (देखो The Transformation of Sikhism page 17)

और स्वामी विवेकानद के समान उनका वेदान्त आलस्य छुड़ाने वाला और क्रियाशील बनानेवाला था। इसी लिये उन्होंने अपने एक शिष्य को अपना काम चलता रखने के लिये उत्तराधिकारी बनाया था।

गुरु नानक अपने जीवन के अंतिम दिनों मे पंजाब के कर्तारपुर नामक एक गाँव में रहते थे। वहाँ सहस्रों हिंदू उनके सदुपदेशामृत से लाभ उठाने के लिये आया करते थे, पर जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि गुरु नानक की इच्छा हिंदुओं में रहते हुए ही—हिंदुओं के सुधार करने की थी—हिंदुओं से वे अलग समाज संगठन करना नहीं चाहते थे। पर गुरु अंगद ने देखा कि गुरु नानक के विचारों को अच्छा समझते हुए भी लोग कार्य में परिणत नहीं करते हैं। तब उन्होंने निम्न तीन बातें कीं, जिससे सिक्ख समाज के प्रथम संगठन की नींव पड़ी।

(१) * उन्होंने सबसे पहले गुरुमुखी अक्षरों की रचना की

---

* लाहौर के बैरिस्टर-एट ला डाक्टर गोकुलचन्द एम० ए० पी० एचडी० अपनी पुस्तक "The Transformation of Sikhism" में लिखते हैं—"इस लिपि ने पुरोहितों के प्रभुत्व को भी एक प्रबल हानि पहुँचाई थी। इस नई लिपि के चलाने का कारण यही था कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व घटे।" डाक्टर साहब यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रीयता में इस लिपि पर विघ्न पहुँचाने का आक्षेप किया जा सकता है, पर वे साथ ही यह कहते हैं—गुरुमुखी अक्षर सुगम हैं, अन्य भाषाओं के अक्षरों से जल्दी लिखे जा सकते हैं। उक्त डाक्टर साहब का कथन है कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व नष्ट करने का इससे उत्तम

थी, (२) गुरु नानक का चरित्र तथा वाणियों का संग्रह था, (३) एक लंगर अर्थात् एक बिना मूल्य भंडारा देना अथवा भोजनगृह का स्थापन करना था।

गुरुमुखी अक्षरों के प्रचलित होने से पंजाब निवासियों को एक सुविधा भी हुई कि जो लोग संस्कृत नहीं पढ़ सकते थे, उन्होंने इस लिपि को सीखना आरंभ किया। वे लोग इस लिपि में लिपिबद्ध गुरु नानक के चरित्र तथा वाणियों के संग्रह को प्रसन्नतापूर्वक पढ़ने लगे। पंजाब में पढ़ने लिखने की चर्चा बढ़ने लगी। बाला नामक एक मनुष्य गुरु नानक के साथ रहता था, उसने गुरु अंगद को गुरु नानक का समस्त जीवन वृत्तांत तथा उनकी मनोरंजक यात्राओं का वर्णन लिखाया था, जिससे यह ग्रंथ सर्वप्रिय हो गया।

लंगर से भी सिक्ख मत के प्रचार में विशेष सहायता मिली थी। गुरु नानक ने भी लंगर स्थापित कर रखा था। गुरु अंगद ने इसकी और अधिक उन्नति की। ईसाइयों के स्थापित अनाथालय, अस्पताल, आश्रम तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं के समान इस लंगर से भूखे, अनाथ लोगों को न सिर्फ भोजन ही मिला किंतु इसके द्वारा सिक्ख मत की ख्याति हुई। इसके कारण सिक्ख मत की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इस लंगर में भोजन करते समय सब मनुष्य एक ही पंक्ति में बैठते थे। जाति पाँति

उपाय सोचा जाना असंभव था और यदि इस समय तक भी सिक्खों तक में ब्राह्मण उत्तम समझे जाते हैं तो इसका कारण ब्राह्मणों की स्वाभाविक श्रेष्ठता है। (देखो The Transformation of Sikhism page 17)

और स्वामी विवेकानंद के समान उनका वेदान्त आलस्य छुड़ाने वाला और क्रियाशील बनानेवाला था। इसी लिये उन्होंने अपने एक शिष्य को अपना काम चलता रखने के लिये उत्तराधिकारी बनाया था।

गुरु नानक अपने जीवन के अंतिम दिनों मे पंजाब के कर्त्तारपुर नामक एक गाँव में रहते थे। वहाँ सहस्रों हिंदू उनके सदुपदेशामृत से लाभ उठाने के लिये आया करते थे, पर जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि गुरु नानक की इच्छा हिंदुओं में रहते हुए ही—हिंदुओं के सुधार करने की थी—हिंदुओं से वे अलग समाज संगठन करना नहीं चाहते थे। पर गुरु अंगद ने देखा कि गुरु नानक के विचारों को अच्छा समझते हुए भी लोग कार्य में परिणत नहीं करते हैं। तब उन्होंने निम्न तीन बातें कीं, जिससे सिक्ख समाज के प्रथम संगठन की नींव पड़ी।

(१) * उन्होंने सबसे पहले गुरुमुखी अक्षरों की रचना की

---

* लाहौर के बैरिस्टर-एट ला डाक्टर गोकुलचन्द एम० ए० पी० एचडी० अपनी पुस्तक "The Transformation of Sikhism" में लिखते हैं—"इस लिपि ने पुरोहितों के प्रभुत्व को भी एक प्रबल हानि पहुँचाई थी। इस नई लिपि के चलाने का कारण यही था कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व घटे।" डाक्टर साहब यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रीयता में इस लिपि पर विघ्न पहुँचाने का आक्षेप किया जा सकता है, पर वे साथ ही यह कहते हैं—गुरुमुखी अक्षर सुगम हैं, अन्य भाषाओं के अक्षरों से जल्दी लिखे जा सकते हैं। उक्त डाक्टर साहब का कथन है कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व नष्ट करने का इससे उत्तम

(३) प्रारंभिक अवस्था

"न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पत्तिभिः कार्यं संसिद्धमभ्येति
यथा बुद्ध्या प्रसाधितम्"

—सुभाषित रत्नभाण्डागार

अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही सिक्ख मत को उदासी मत से प्रतिद्वंदता करनी पड़ती थी। गुरु अंगद के देहांत होने के पश्चात् अमरदास गुरु गद्दी पर बैठे। गुरु नानक की भाँति गुरु अंगद ने भी अपने किसी आत्मीय स्वजन को उत्तराधिकारी न बना कर अमरदास नाम के एक सुयोग्य, धर्म-परायण व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाया। गुरु अमरदास के गद्दी पर बैठते ही सिक्ख समाज में हलचल मच गई। यह प्रश्न बड़े जोर शोर से उठने लगा कि सिक्ख लोग गुरु अमरदास के अनुयायी रहें अथवा बाबा नानक के पुत्र श्रीचंद्र* के स्थापित उदासी मत को

* गुरु नानक के दो लड़के थे, श्रीचंद्र और लक्ष्मीचंद्र। लक्ष्मीचंद्र विवाह करके एक गृहस्थ के समान रहने लगा। किंतु श्रीचंद्र संसार को त्याग कर साधु बन गया। उसने उदासी मत का प्रचार किया। श्रीचंद्र संसारत्यागी महात्मा था, भारतवर्ष में किसी संप्रदाय का प्रवर्तक जितना त्याग और वैराग्य का परिचय देता है उतना ही उसका अधिक प्रभाव होता है। श्रीचंद्र के त्याग को देख कर, सिक्ख मत के अनुयायी उदासी मत की ओर झुकने लगे। दूसरे श्रीचंद्र के प्रभाव होने का कारण यह था कि वह गुरु नानक का पुत्र था। इसलिये सिक्खों की उस पर भक्तिऔर श्रद्धा होना स्वाभाविक ही था।

का कुछ विचार नहीं किया जाता था। इस लंगर से और चाहे जो कुछ लाभ हुआ हो पर एक लाभ प्रत्यक्ष ही यह हुआ कि उस समय के हिंदू तथा सिक्खों में मिल कर किसी कार्य के करने का भाव उत्पन्न हो गया। दूसरे गुरु ने इस भाँति सिक्ख समाज के संगठन करने का प्रयत्न किया था।

---

(३) प्रारंभिक अवस्था

"न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयर्न पत्तिभिः कार्य संसिद्धमभ्येति यथा बुद्धया प्रसाधितम्"

—सुभाषित रत्नभाण्डागार

अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही सिक्ख मत को उदासी मत से प्रतिद्वंद्वता करनी पड़ती थी। गुरु अंगद के देहांत होने के पश्चात् अमरदास गुरु गद्दी पर बैठे। गुरु नानक की भाँति गुरु अंगद ने भी अपने किसी आत्मीय स्वजन को उत्तराधिकारी न बना कर अमरदास नाम के एक सुयोग्य, धर्म-परायण व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाया। गुरु अमरदास के गद्दी पर बैठते ही सिक्ख समाज में हलचल मच गई। यह प्रश्न बड़े जोर शोर से उठने लगा कि सिक्ख लोग गुरु अमरदास के अनुयायी रहें अथवा बाबा नानक के पुत्र श्रीचंद्र* के स्थापित उदासी मत को

---

* गुरु नानक के दो लड़के थे, श्रीचंद्र और लक्ष्मीचंद्र। लक्ष्मीचंद्र विवाह करके एक गृहस्थ के समान रहने लगा। किंतु श्रीचंद्र संसार को त्याग कर साधु बन गया। उसने उदासी मत का प्रचार किया। श्रीचंद्र संसारत्यागी महात्मा था, भारतवर्ष में किसी संप्रदाय का प्रवर्तक जितना त्याग और वैराग्य का परिचय देता है उतना ही उसका अधिक प्रभाव होता है। श्रीचंद्र के त्याग को देख कर, सिक्ख मत के अनुयायी उदासी मत की ओर झुकने लगे। दूसरे श्रीचंद्र के प्रभाव होने का कारण यह था कि वह गुरु नानक का पुत्र था। इसलिये सिक्खों की उस पर भक्तिऔर श्रद्धा होना स्वाभाविक ही था।

ग्रहण करें। गुरु अमरदास ने अपनी युक्ति और चतुरता से सिक्ख समाज की रक्षा कर ली। उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि अपने कर्त्तव्य को पालन करनेवाला व्यक्ति गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी है, इस विषय में उन्होंने बाबा नानक का दृष्टांत दिया। उन्होंने कहा—"गुरु नानक धर्म-परायण और त्यागी होने पर भी जंगल में नहीं गए थे। वे संसार में रहते हुए भी संसार से पृथक् थे। गुरु नानक का आदर्श-जीवन यही बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य ससार में रहते हुए भी संसार से अलग रह सकता है*। बस इस प्रबल युक्ति से गुरु अमरदास ने सिक्ख समाज को नष्ट होने से बचा लिया।

सिक्ख समाज को मृत्यु से बचा कर गुरु अमरदास ने संगठन का कार्य आरंभ किया। इस समय सिक्खों की संख्या खूब बढ़ चली थी, इसलिये उन्होंने जितने नगरों और प्रदेशों में सिक्ख लोग रहते थे, उनमें २२ गद्दियाँ स्थापित कीं और वहाँ पर अपने प्रतिनिधि रखे जो धर्मोपदेशक का कार्य्य करते थे। प्रत्येक गद्दी "मंजा" कहलाती थी। पंजाब में "मंजा" चारपाई को कहते हैं। यह "मंजा" गुरु की गद्दी के स्थान पर रखा गया था। इस प्रकार तीसरे गुरु के समय में गुरु नानक के विचारों का खूब प्रचार होने लगा। सिक्ख धर्म की नींव सुदृढ़ हुई।

इस भाँति उन्होंने सिक्ख समाज का बाईस वर्ष तक संगठन किया था। सन् १५७४-७५ में † गुरु अमरदास का

---

* अब भी पंजाब तथा संयुक्त प्रांत में उदासी मत के अनुयायी रहते हैं। परंतु वे सिक्ख समाज से पृथक् रहते हैं।

† गुरु अमरदास का जन्म सन् १५०९ में अमृतसर के एक

देहांत हो गया और उनके उत्तराधिकारी भी उनके दामाद रामदास हुए।

गाँव में हुआ था। इनके माता पिता धनी नहीं, दरिद्र थे। इसलिए उनको बाल्यावस्था में ही जीविका की चिंता करनी पड़ी थी। वे एक टट्टू पर माल लाद कर ढोया करते थे। इस बीच में इनकी गुरु अंगद से भेंट हो गई थी। अंगदजी के ये परम भक्त हो गए और उन्होंने उनकी सेवा बिना किसी स्वार्थ के तन-मन-धन से की थी पर कभी गुरु भांडार से कुछ नहीं खाया। पीछे अमरदास नमक और तेल का व्यापार करने लग गए थे, इस व्यापार से जो कुछ लाभ होता था वह वे गुरु की सेवा में लगा देते थे। गुरु के निवासस्थान से गोंडवाल नदी दो कोस की दूरी पर थी, वहाँ से नित्य प्रति पानी भरकर गुरु के लिये लाया करते थे। एक दिन अंधेरी रात्रि को वे अपने गुरु के लिये पानी ला रहे थे कि एक जुलाहे के घर के पास एक गड्ढे में गिर पड़े, और घड़े के टुकड़े टुकड़े हो गए। अमरदास बिना किसी सहायता के गड्ढे में से निकल आए और दूसरे घड़े में पानी भर कर गुरु के लिये ले गए। इस बात से प्रसन्न होकर गुरु अंगद ने इनको अपना उत्तराधिकारी बनाया। गुरु अमरदास कवि भी थे, ग्रंथ-साहब में इनकी कविता सम्मिलित है। सिक्ख समाज के संगठन के साथ ही साथ उन्होंने समाज-सुधार भी किया था। उन्होंने सती की कुप्रथा को बंद करने और विधवा विवाह के लिए बहुत जोर दिया था। इनका कथन

था कि आत्मघात कर के सती होने की अपेक्षा सच्ची सती वही है जो ब्रह्मचर्य्य धारण करके अपना जीवन निर्व्वाह करे अथवा अपना पुनः संस्कार कर ले। गुरु अमरदास का अपने दामाद रामदास को गद्दी देने का कारण यह था कि एक दिन गुरु चौकी पर बैठे स्नान कर रहे थे कि चौकी का पाया टूट गया, लड़की अपने पिता को चौकी के पाये के टूटने की खबर न देकर अपने हाथ का सहारा चौकी में लगाए रही, जिससे उसके हाथ में चोट आ गई और खून बहने लगा। परंतु उसने गुरुजी से इस विषय में कुछ नहीं कहा। नहाते समय पानी का रंग लाल देख कर गुरुजी को समस्त घटना का पता लगा तब वे अपनी पुत्री के धैर्य्य को देख कर बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि वर माँग। इस पर पुत्री ने यह वर माँगा कि सिक्ख गुरु की गद्दी मेरे वंश में परंपरा के लिये रहे। गुरु अमरदास की बादशाह अकबर से भी गाढ़ी मैत्री हो गई थी। इस मैत्री होने का कारण यह था कि जिस समय अकबर ने चित्तौरगढ़ पर आक्रमण किया था, चित्तौर के दुर्ग पर विजय लाभ करना बादशाह अकबर को कठिन प्रतीत होने लगा। उन्होंने, गुरु अमरदास का नाम सुना था। एक खत्री को गुरु के पास यह कहलाने के लिये भेजा कि गुरु अकबर के विजय के लिये ईश्वर का भजन करे। इस पर गुरु अमरदास ने कहा कि ज्योंही कुएँ का चक्र ऊपर आवेगा, त्योंहीं चित्तौरगढ़ विजय होगा और कहते हैं कि ऐसा हुआ भी था।

(४) उद्योग की पूर्ति

"क्रम तें जल के बिंदु करि जिमि घट पूरन होय
विद्या अरु धन धर्म की रीति जानिये सोय"

गुरु अमरदास ने सिक्ख समाज के संगठन करने के लिये जिन जिन कार्यों का बीड़ा उठाया था उनमें से बहुत से गुरु रामदास ने पूरे किए। गुरु रामदास के समय में सिक्खों का प्रभाव और भी बढ़ गया। उन्होंने पहले सार्वजनिक भवनों तथा नगरों को स्थापित किया था। यद्यपि गुरु अमरदास ने गुरु अंगद के आज्ञानुसार सन् १५४६ ई० में व्यास नदी के तट पर गोविंदवाल नामक गाँव को स्थापित किया और वहाँ एक बड़ी सुंदर बावली बनवा दी थी, जो सिक्खों के लिये बड़ा तीर्थस्थान हो गया और उक्त स्थान पर अब तक वर्ष में दो बार मेला बड़ी धूमधाम से होता है, तथापि चौथे गुरु रामदास ने अमृतसर नगर स्थापित करके सिक्ख मत का और भी प्रचार किया। अमृतसर के पंजाब में केंद्र होने के कारण आस पास के जाटों मे सिक्ख मत का और भी प्रचार हुआ। बादशाह अकबर गुरु अमरदास के उत्तराधिकारी गुरु रामदास का भी पूर्व गुरु के समान ही आदर और सम्मान करते थे। उन्होंने अमृतसर नगर के स्थापन करने में बड़ी सहायता दी थी। अमृतसर का पहला नाम "चक्र रामदास" अथवा "चक्र गुरु" पड़ा था परंतु पीछे वहाँ तालाव होने के कारण "आब-सर" अथवा अमृत का तालाब पड़ गया। अमृतसर मे उन्होंने "हरिमंदिर" बनाया। स्वयं गुरु रामदास एक कुटिया

बना कर यहीं रहने लगे थे। इससे सिक्खों का वहाँ पर और भी जमघट होने लगा।

स्मरण रहे कि जिस धर्मप्रचारक में दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति नहीं है, वह कदापि अपने विचारों के प्रचार करने में समर्थ नहीं हो सकता। सिक्ख गुरुओं की सदैव से ही दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति रहती थी। इससे सिक्खों के धर्म संबंधी विचारों का और भी प्रचार होने लगा। पर दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति होने पर भी वे बड़े आदमियों से घृणा नहीं करते थे। उनके लिए अमीर गरीब सब ही बराबर थे। गुरु रामदास भी दीन दुखियों के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति प्रकट कर के ही नहीं रह जाते थे, परंतु वे उनके दुःख दूर करने के लिये क्रियात्मक चेष्टा भी किया करते थे। कहते हैं कि एक बार बादशाह अकबर लाहौर में एक वर्ष तक अपनी बड़ी सेना सहित रहे थे, जिसके कारण वहाँ खाने पीने की चीजों का भाव बढ़ गया, जिससे गरीबों को तंग होना पड़ा। जब बादशाह अकबर गुरु से मिलने गए और उन्होंने पूछा कि मेरे लिये कुछ सेवा बतलाइए, तब गुरु ने अकबर के वहाँ ठहरने के कारण जो दिक्कतें वहाँ के लोगों को आई थीं, उनका वर्णन करके एक वर्ष तक कर मुआफ़ करने की प्रार्थना की और अकबर ने यह प्रार्थना स्वीकार की। इस घटना से गुरु रामदास का प्रभाव उच्च श्रेणी के मनुष्यों में भी बढ़ने लगा। कृषक तथा अन्य श्रेणी के व्यक्ति गुरु रामदास के इस कार्य से अत्यंत प्रसन्न हुए। सर्वसाधारण गुरु की ओर खिंचने लगे। कहने का सारांश यह है कि इस समय सिक्ख धर्म का खूब प्रचार होने लगा। इस समय सिक्ख गुरुओं की शक्ति इतनी

बलवती हो गई थी कि वे केवल धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों में ही पूज्य नहीं समझे जाते थे, वरन् सांसारिक कार्य्यों में भी लोग उन्हें सच्चा बादशाह कहने लगे थे।

* गुरु रामदास सात वर्ष तक गुरुगद्दी पर रहे थे। सन् १५८१ के मार्च मास में उनका देहांत हो गया। व्यास नदी के किनारे उनके स्मारक स्वरूप उनको समाधि स्थापित की गई।



* गुरु रामदास के गुरु अमरदास की लड़की से तीन लड़के थे। बड़ा लड़का माधो था, वह साधु हो गया। दूसरा लड़का पृथ्वीदास था वह लौकिक विषयों में चिंतित रहता था, अर्थात् दुनियादार था, सिक्खधर्म आदि की ओर उसका विशेष ध्यान नहीं था। तीसरा लड़का अर्जुन था, जो अपने पिता रामदास का बहुत प्यारा और कृपापात्र था। इसलिये वही गद्दी पर बैठा।

द्वितीय खंड

(१) परिवर्त्तन का आरंभ

"निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव मे मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः"

भर्तृहरि

"Cowards die many times before their deaths
The valiant never taste of death but once"
—Shakespeare.

गुरु रामदास की मृत्यु के पश्चात् उनके छोटे पुत्र अर्जुन गुरुगद्दी पर बैठे। इस तरह से अर्जुन देव की माता अर्थात् गुरु अमरदास की पुत्री तथा गुरु रामदास की धर्मपत्नी की मनोकांक्षा पूर्ण हुई। सिख-इतिहास रचयिता कनिंगहम साहब का कथन है कि गुरु अर्जुन ही सब से पहले गुरु नानक के दिये धर्मोपदेशों का प्रकृत तात्पर्य्य समझ सके। जो कुछ हो, इस समय सिक्ख समाज की नींव दृढ़ हो चुकी थी। गुरु अमरदास तथा गुरु रामदास ने जो सार्वजानक संस्थाएँ स्थापित की थीं और उनकी जो अकबर से मैत्री हो गई थी, उससे इस समय सिक्ख समाज की लोकप्रियता बढ़ गई थी। अपने पूर्व गुरुओं की भाँति गुरु अर्जुन भी गुरुगद्दी के उपयुक्त पात्र थे। किसी किसी अंश में वे अपने पूर्व गुरुओं से भी

पढ़े हुए थे। वे कवि थे, क्रियात्मक दार्शनिक थे, एक प्रबल समाज रचयिता तथा राजनीतिज्ञ थे।

गुरु अर्जुन अमृतसर में रहने लगे। उनकी प्रबल आकांक्षा सिक्ख समाज की न केवल आध्यात्मिक विषयों किंतु लौकिक विषयों में भी विशेष उन्नति करने की थी। इसलिये उन्होंने अपना साधुपन का भेष परित्याग कर दिया और वे राजसी ठाठ मे रहने लगे। उन्होंने अपना प्रधान निवास-स्थान अमृतसर नियत किया था। यद्यपि गुरु अर्जुन स्वयं बड़े साधु और सरल स्वभाव के थे, तथापि उनके दरबार ने अनुपम शोभा धारण की थी। वे बहुत अच्छे अच्छे घोड़े और हाथी रखते थे। वास्तव में उन्होंने सिक्खों को एक पृथक् समाज में संगठित कर दिया था। उन्होंने सिक्खों के पवित्र तथा धार्मिक ग्रंथ, आदिग्रंथ, का संग्रह किया। पहले तीन गुरुओं के लेख उन्होंने गुरु अमरदास के पुत्र मोहन से संग्रह कराए और चौथे गुरु रामदास के लेख अपने पास से सम्मिलित कर दिए। आदिग्रंथ के पूर्ण होने पर इस ग्रंथ का सिक्खोंमें बड़ा मान होने लगा। "आदिग्रंथ सग्रह" करने के अतिरिक्त उन्होंने अपने अनुयायियों से भेंट स्वरूप जो कर आता था, उसका परिमाण नियत कर दिया। २२ प्रदेशों में अपने अनुयायियों से कर वसूल करने के लिये उन्होंने करग्राहक नियुक्त कर दिए। प्रत्येक करग्राहक का यह कर्त्तव्य था कि वह कर वसूल करके वैशाखी अर्थात् सिक्खों के वर्ष के प्रथम दिन अमृतसर दे आवे। उस दिन अमृतसर मे एक बड़ा दरबार लगता था, जिसमें दूर दूर से सिक्ख लोग आते थे।

इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और कार्य यह किया कि अपने अनुयायियों को तुर्किस्तान आदि स्थानों में घोड़ों का व्यापार

करने के लिये भेजा कि वे वहाँ से घोड़े खरीद कर भारत-वर्ष में बेचें। * इसमें संदेह नहीं कि इस व्यापार से सिक्खों को बहुत लाभ हुआ। पहली बात तो यह हुई कि हिंदुओं में जो इंडस (सिंधु) नदी के पार जाति-बंधन के कारण नहीं जा सकते थे, इससे वह जाति-बंधन टूट गया। मुसलमानों जैसे धर्मोन्मत्त तथा हिंसक लोगों से बचकर निकल आने के लिये आत्मिक बल की आवश्यकता थी, इससे सिक्खों में उस आत्मिक बल का प्रादुर्भाव हुआ। घोड़ों के व्यापार से सिक्ख व्यापारियों को बहुत लाभ हुआ तथा गुरु भांडार में भी खूब रुपया आने लगा। इस व्यापार से सिक्खों को घोड़ों पर सवारी करने की रुचि हुई और वे समय पा कर अच्छे घुड़-सवार हो गए।

इस प्रकार गुरु अर्जुन के समय में सिक्खों की बहुत उन्नति हुई। जिस समय सिक्खों को इस भाँति उन्नति हो रही थी, अथवा यों कहिए कि सिक्ख समाज का परिवर्त्तन हो रहा था, उस समय एक ऐसी घटना हो गई जिससे सिक्खों में सैनिक भाव विशेष रूप से प्रचलित हो गया।

बहुत सी घटनाएँ ऐसी होती है जिनका देखने में तो कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता, परंतु उनके अप्रत्यक्ष रूप से समाज का समाज उलट जाता है। वैसी ही अघटनीय घटना गुरु अर्जुन के समय में हुई। बादशाह जहाँगीर का एक कर्म्मचारी

* पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर गोकुलचन्द नारंग एम० ए० अपनी पुस्तक "The Transformation of Sikhism" में गुरु का घोड़ों का व्यापार करना राजनीतिक उद्देश्य बतलाते हैं (The Transformation of Sikhism" page 35.)

चंदूशाह नामक लाहौर में रहता था, उसका काम वहाँ पर मालगुज़ारी वसूल करना था। गुरु अर्जुन के पुत्र हरगोविंद से चंदूशाह अपनी लड़की का संबंध करना चाहता था, परंतु गुरु अर्जुन ने अभिमानी चंदूशाह की लड़की से अपने लड़के का ब्याह करना स्वीकार नहीं किया। गुरु की नाराजगी का कारण यह था कि चंदूशाह ने गुरु को भिक्षुक बतलाते हुए उनकी मोरी से उपमा दी थी। आत्मगौरवप्रिय गुरु अर्जुन अपने इस अपमान को सहन नहीं कर सके। वे अपने पुत्र का ब्याह ऐसे अभिमानी की पुत्री से करने को सहमत नहीं हुए। कई इतिहास लेखकों का कथन है कि स्वयं चंदूशाह गुरु के पास गया और एक लाख रुपया दहेज में देने को तैयार था। परंतु गुरु अर्जुन ने स्पष्ट कहा—"मेरे शब्द पत्थर पर अंकित हो चुके हैं, अब मिट नहीं सकते। चाहे आप सारी दुनियाँ दहेज में क्यों न दे दें ; लेकिन मेरे लड़के की शादी आप की लड़की के साथ कभी नहीं होगी"। इस पर चंदूशाह ने बादशाह जहाँगीर के कान भरे कि जब शाहजादा खुसरो लाहौर में पहुँचा था तब उसको अर्जुन ने बहकाया था* और सहायता दी थी। चंदूशाह गुरु से अपनी लड़की का विवाह न करने के कारण बदला लेना चाहता ही था, उसका दाँव पूरा बैठ गया। गुरु पर राजद्रोह का दोष लगाया गया और उन पर दो लाख रुपया जुर्माना हुआ ; आज्ञाकारी सिक्खों ने यह दंड भरने की चेष्टा की, परंतु गुरु ने सिक्खों को चंदा करने से मना कर दिया, उन्होंने अपने

* कई इतिहास लेखकों का यह कथन है कि लाहौर में पहुँचने पर शाहजादा खुसरो ने गुरु अर्जुन से सहायता माँगी थी, और उन्होंने उसको सहायता दी भी थी।

अनुयायियों को समझाया कि जुरमाना देने की अपेक्षा जेल में जाना अच्छा है। चंदूशाह ने गुरु अर्जुन को अपनी जमानत पर जहाँगीर के यहाँ से छुड़ा लिया और फिर अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव उनके सामने उपस्थित किया; परतु गुरु ने अपनी स्वाभाविक तेजस्विता के कारण वह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।* बहुत सी अमानुषिक और पाशविक यंत्रणाएँ देकर उसने गुरु की हत्या कर डाली।

इस घटना का सिक्ख समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। गुरु अर्जुन की मृत्यु सिक्खों को भड़कानेवाली हुई। † सैय्यद

---

* गुरु अर्जुन की हत्या के संबंध में बहुत सी बातें सुनने में आती हैं। सिक्खों के ग्रंथ "पथप्रकाश" में लिखा है कि गुरु को खौलते हुए जल में बैठाया गया। फिर गरम गरम बालू से शरीर जलाया गया और अत में उनको गौ की खाल में सीने की आज्ञा दी गई। गुरु ने अपना अतकाल समझ कर स्नान करने की आज्ञा माँगी और कहा कि स्नान करने के पश्चात् चंदूशाह के प्रस्ताव पर विचार करूँगा। गुरु रावी नदी तक पहुँचाए गए जो कि उस समय किले की दीवार के नीचे से बहती थी। गुरु जल में गिर पड़े और फिर नहीं निकले। मुंशी सोहनलाल जो महाराज रणजीत सिंह के समय के इतिहास के लेखक थे लिखते हैं—चंदू की आज्ञा से वे रावी नदी में फेंके गए और नदी की धार के साथ बह गए। लतीफ कहता है कि गुरु कारावास में मृगी के रोग से मर गए।

† The death of Guru Arjun is a great turning

मुहम्मद लतीफ़ ने भी अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि गुरु अर्जुन की मृत्यु सिक्खों के धार्मिक जोश को उभाड़नेवाली हुई। अब तक जो सिक्ख अपने धार्मिक विचारों का शान्तिपूर्वक प्रचार कर रहे थे वे ही बिगड़ उठे। यद्यपि उस समय प्रत्यक्ष रूप में कोई प्रभाव देखने में नहीं आया, तथापि इस घटना ने सिक्खों की आँखें खोल दीं। उनको ज्ञात हो गया कि बिना तलवार का सहारा लिए इस संसार में शांतिपूर्वक रहना असंभव है। इस अत्याचार से सिक्खों में स्वावलंबन की ज्योति स्फुरित हुई। इस घटना से सिक्ख समाज ने दूसरा रूप धारण कर लिया।



---

point in the history of the Sikh Nation, for it inflamed the religious passions of the Sikhs and it was at this time that those seeds of the Musalman power were sown which took such deep root in the minds of all the faithful followers of Nanak [History of the Punjab, from the remotest antiquity to the present time, by Syad Muhammad Latif.]

(२) क्रियात्मक प्रतिरोध का श्रीगणेश

" देखकर जो विघ्न बाधाओं को घबराते नहीं।
भाग पर रह करके जो पीछे हैं पछताते नहीं।
काम कितना ही कठिन हो पर जो उकताते नहीं।
भीड़ पड़ने पर भी चंचलता जो दिखलाते नहीं।
होते हैं एक आन में उनके बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में रहते फूले फले"

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

सन् १६०६ में गुरु अर्जुन की मृत्यु के बाद, उनके पुत्र हरगोविंदजी गुरुगद्दी पर बैठे। उस समय गुरु अर्जुन की मृत्यु ने सिक्खों मे एक नवीन शक्ति संचारित कर दी थी। जो स्वभावतः ही वीर होते है, उनको अपने उद्देश्य में कुछ कठिनाई नहीं मालूम होती। वीरता का सबंध छोटी बड़ी उम्र से नहीं होता है। सिंह का एक छोटा बच्चा भी हाथी को देखकर मारने के लिए दौड़ता है। गुरु हरगोविंद भी स्वभावतः वीर थे। गुरु अर्जुन की मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी। पर इतनी छोटी अवस्था होने पर भी गद्दी पर बैठते ही उन्होंने अपनी कमर में दो तलवारें बाँधी। अपने पूज्य पिता के अकाल मृत्यु के कारण वे मुसलमानों के परम विद्वेषी हो गये थे। बदला लेने की उत्कट इच्छा ने गुरु हरगोविंद को अस्त्र धारण और युद्ध के कार्य में उत्तेजित किया था। वे सदैव दो तलवारें कमर में कसे रहते थे। जब कोई इसका कारण पूछता तो वे त्योरी चढ़ा कर उत्तर देते थे कि एक पिता की

अपघात मृत्यु का बदला लेने के लिये और दूसरी मुसलमानों के शासन की जड़ उखाड़ने के लिये रखता हूँ। गुरु हरगोविंद ही सिक्खों में अस्त्र शस्त्र शिक्षा के प्रथम चलानेवाले हुए।

गुरु हरगोविंद में क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों के लक्षण थे। उनके स्वभाव में रजोगुण की विशेष मात्रा बढ़ने पर भी सतो-गुण का अभाव नहीं था। जहाँ वे राजसी तलवार धारण करते थे, वहाँ वे अपना भेष बहुत सादा, एक टोपी, एक माला तथा ऊन की बनी सेली पहनते थे। इसी में उन्होंने खड्ग, छत्र और मुकुट भी सिलवा लिया था। उन्होंने अपना कार्यक्रम भी बदल लिया। पहले गुरुओं के समान वे ईश्वरचिंतन तथा भजन ही नहीं करते थे। उनका बहुत-सा समय मल्लयुद्ध, घोड़े की सवारी, चीते और शूकरादि जंगली जानवरों के शिकार खेलने में बीतने लगा। उद्देश्य-परिवर्त्तन के साथ ही साथ रुचि-परि-वर्त्तन भी हुआ। पहले गुरुओं ने मांस भक्षण के लिये कोई उत्तेजना नहीं दी थी। परंतु गुरु हरगोविंद ने खुल्लमखुल्ला मांस भक्षण का समर्थन किया।

ज्ञात होता है कि गुरु हरगोविंद पूरे राजनीतिज्ञ थे। उनकी उस समय के प्रधान मुसलमान राजकर्मचारियों से भी मित्रता हो गई थी, यहाँ तक कि वे बादशाह जहाँगीर के भी कृपापात्र हो गए थे। * उन्होंने जहाँगीर के कृपापात्र होकर अपने पिता

---

* लतीफ ने लिखा है कि हरगोविंद चंडूशाह को जहाँगीर की आज्ञा से अमृतसर ले आए थे। चंडूशाह के पैरों में रस्सा बाँध कर गली में घसीटा और उसको बुरी यंत्रणाएँ दे कर मार डाला। कनिंगहम साहब ने "सिख-इतिहास" में बदला लेने की बात कहीं नहीं लिखी है।

के वैरी चंदूशाह से वदला भी लिया। उनकी अश्वशाला में ८०० अच्छे अच्छे घोड़े थे। तीन सौ घुड़सवार थे, और साठ तोपची उनके आसन्नपरिचारक अर्थात् वाडीगार्ड थे। उन्होंने व्यास नदी पर हरगोविंदपुर नामक गाँव वसाया था। वादशाह जहाँगीर के अधीन उन्होंने नौकरी भी स्वीकार कर ली थी। पहले वे वादशाह जहाँगीर के साथ काश्मीर गए थे। वादशाह ने प्रसन्न होकर गुरु हरगोविंद को पंजाब के राज्याधिकारियों पर एक प्रकार का निरीक्षक नियुक्त कर दिया था और ७०० घुड़सवार, १००० पैदल तथा ७ तोपों का उन्हें स्वामी बना दिया था। परंतु पीछे वे वादशाह को प्रसन्न नहीं कर सके। वादशाह ने गुरु अर्जुन पर जो जुर्माना हुआ था, उसके न देने के कारण उनको ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। * वहाँ गुरु हरगोविंद बारह वर्ष तक कैद रहे थे। जेल से छूटने पर गुरु हरगोविंद शांतिपूर्वक थोड़े दिन तक रहे थे, पर लाचार होकर अंत में उन्हें आत्मरक्षा के लिये अस्त्र ग्रहण करना पड़ा। अस्त्र ग्रहण करने का कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय के प्रांतीय मुसलमान शासकों से गुरु हरगोविंद की लाग डाँट पड़ गई थी, क्योंकि पहले लड़ाई की बात, पंजाब के प्रांतीय शासकों

---

* गुरु हरगोविंद के कैद हो जाने पर भी सिक्खों की भक्ति और श्रद्धा कम नहीं हुई। वे लोग ग्वालियर पहुँचे और गुरुभक्ति के आवेश में किले की दीवालों की पूजा करने लगे। शायद सिक्खों की ऐसी भक्ति और उनका ऐसा उत्साह देखकर ही और गुरु हरगोविंद का प्रभाव जान कर जहाँगीर ने उनको छोड़ दिया होगा।

की ओर से शुरू हुई थी। गुरु का एक शिष्य तुर्किस्तान से कुछ बढ़िया घोड़े ला कर भेंट करने के लिये अमृतसर जा रहा था। लाहौर के नाज़िम ने उन घोड़ों को सम्राट् की भेंट करने के लिये छीन लिया। सम्राट् ने एक घोड़ा काजी को भेंट कर दिया। गुरु ने वह घोड़ा काजी से ले लिया और काजी का अपमान करने के उद्देश्य से उसकी एक प्यारी * गणिका को भी वे ले आए। इस पर लाहौर का नायब नाजिम मुख्तलिस खाँ आग-बबूला हो गया। उसने तथा काजी के दो पुत्रों ने ७००० योद्धाओं सहित गुरु के ऊपर आक्रमण किया। लाहौर का नायब नाजिम अपने घमंड में फूला हुआ था। वह गुरु को गिरफ़्तार करने और उनके साथियों को तितर बितर करने के विचार से चला। यह युद्ध अमृतसर के पास हुआ। विजय लक्ष्मी

---

* लाहौर के डाक्टर गोकुलचंद्र अपनी पुस्तक The Tranformation of the Sikhism" में लिखते हैं—"सिक्ख लोग अपने इतिहासों में लिखते हैं कि वह काजी की पुत्री थी।" कनिंगहम साहब के अनुसार मुसलमान लोग बताते हैं कि वह एक गणिका थी और उसका हिंदू नाम कौला, मुसलमानों के मत को दृढ़ करता है। संभव है कि लड़की पहले हिंदू हो और काजी उसे जबरदस्ती भगा कर ले गया हो। उन दिनों इस प्रकार की घटनाएँ मामूली थीं। गुरु को हिंदुओं का एक संरक्षक समझ कर, संभव है कि उसने भाग कर गुरु की शरण ले ली हो। गुरु ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया तथा अमृतसर में एक मंदिर बनवा कर उसे सदा के लिये अमर कर दिया।

गुरु पर प्रसन्न हुई, मुसलमानी सेना परास्त हुई। उसका सेना-नायक युद्ध स्थल में मारा गया, सेना-नायक के मरने पर मुसलमानी सेना मैदान छोड़ कर भाग गई। भारतवर्ष के इतिहास में मुसलमान और सिक्खों के बीच में सबसे पहला युद्ध यही हुआ। गुरु को इस जीत से बादशाही सेना कुछ चिढ़ गई। उसने दो सप्ताह पीछे ही गुरु पर पुनः आक्रमण किया और वह फिर परास्त हुई। इसके पीछे और भी कई छोटी-छोटी लड़ाइयाँ होती रहीं, जिन सब में बराबर गुरु की जीत होती रही। *

---

* दूसरी लड़ाई का कारण कनिंगहम तथा श्रीयुक्त गोकुलचंद नारग लिखते हैं कि—लाहौर के नाजिम ने जिन घोड़ों को जबरदस्ती तुर्किस्तान से लाते समय एक सिक्ख से छीन लिया था उन घोड़ों को लाने के लिये गुरु ने अपना एक शिष्य लाहौर भेजा। यह मनुष्य गुरु की सेना में भरती होने के पहले एक साहसिक लुटेरा रह चुका था। वह घसियारे का भेष धारण कर राजकीय अश्वशाला में से एक घोड़ा चुरा कर रावी नदी में कूद पड़ा। उन दिनों रावी लाहौर के किले के नीचे बहती थी। वह गुरु के पास घोड़ा सकुशल ले आया। गुरु ने दूसरा घोड़ा लाने की आज्ञा की। दूसरी बार उस सिक्ख ने खोजी का भेष धारण किया और किले के अधिकारी वर्ग से कहा कि मैं सब प्रकार की खोज कर सकता हूँ। बस अवसर पाकर वह दूसरे घोड़े पर भी चढ़ कर फिर नदी में कूद पड़ा पर कूदते समय चिल्ला कर उसने बता दिया कि चोर कौन था और घोड़ा कहाँ गया? साथ ही अश्वशालावालों का अपमान करते

दूरदर्शी गुरु हरगोविंद बार बार बादशाही सेना पर जीत होने से फूल कर कुप्पा नहीं हुए। उन्होंने कुछ दिनों तक युद्ध बंद रखना ही चाहा था। वे भटिंडा के जंगलों में चले गए। वहाँ उन्होंने बहुत से शिष्य किए जिनमें एक बाबा बुद्धा था। बुद्धा पहले लुटेरा था। इस स्थान पर उन्होंने सिक्ख मत के सिद्धांतों का खूब प्रचार किया। लगभग दो वर्ष पीछे वे एक बार अमृतसर देखने गए थे। रात दिन बादशाही सेना से झगड़ा होने और बादशाह से वैर भाव होने के कारण उन्होंने अमृतसर छोड़ ही रखा था। इसके पीछे वे जालंधर के निकटवर्ती गाँव कर्त्तापुर में चले गए थे। इस बीच गुरु तथा उसके घात्रेय पयंदा खाँ मे जरा सी बात के लिये झगड़ा हो गया। पयंदा खाँ एक बलवान योद्धा था। गुरु के सब युद्धों में वह सेनानायक रह चुका था। वह अनुभव करने लगा कि मेरे कारण ही समस्त युद्धों मे विजय प्राप्त हुई है। गुरु से बादशाह अप्रसन्न था ही। चंदू का पुत्र तथा गुरु के चचा पृथ्वी का पुत्र सदा से उनसे बदला लेने की इच्छा रखते थे। बस पयंदा खाँ इन लोगों की बातों में आ गया और भड़क गया। सब मिल कर बादशाह के पास गए और उन्होंने उससे कहा कि यदि हमको काफ़ी सेना दी जाय तो इस बार गुरु को जड़ से नष्ट कर दें। अप्रैल सन् १६३४ में कर्त्तापुर में बादशाही सेना ने आक्रमण किया। * भला भाड़े के टट्टू, सिक्ख सेना के

हुए उसने कहा कि यदि तुम में शक्ति है तो मेरे स्वामी सच्चे बादशाह गुरु हरगोविंद से दोनों घोड़े लौटा लाओ।"

* लतीफ और कनिंगहम दोनों लिखते हैं कि इस झगड़े का कारण यह था कि पयंदा ने गुरु के एक प्यारे बाज को ले लिया था।

(३) प्रशांत संगठन और शाही सेना से मुठभेड़

"मालती कुसुमस्येव द्वे गतीह मनस्विनः
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यंते वन एव वा"
—भर्तृहरि।

गुरु हरगोविंद के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गुरु दित्ता के छोटे पुत्र हरराय गुरुगद्दी पर १४ वर्ष की अवस्था में बैठे। हरराय स्वभाव से ही शांतचित्त और विचारशील थे। वे लड़ाई, झगड़े और शिकार की अपेक्षा निर्जन स्थान में ईश्वरचिंतन और योगाभ्यास ही उत्तम समझते थे। गुरु हरराय के समय में बादशाह औरंगजेब ने अपने पिता को कैद कर और भाइयों को मार कर दिल्ली में भारत का राजमुकुट धारण किया था। गुरु हरराय ने सोचा होगा कि उद्दंड औरंगजेब के समय में अस्त्र शस्त्र धारण करने की अपेक्षा सिक्ख समाज की शक्ति का संगठन करना ही अच्छा है। दूसरे सिक्ख लोग बादशाह से कई लड़ाईयाँ लड़ चुके थे, इसलिये उन्हें कुछ दिनों तक अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करना भी आवश्यक था। परंतु इतनी शांति धारण करने पर भी उन्हें एक बार शस्त्र धारण करने की आवश्यकता आन पड़ी।

शाहजहाँ का बड़ा पुत्र दाराशिकोह नाम मात्र का मुसलमान था। वह हिंदुओं का पक्ष करता था। वह वेदांती था। उसने ही फारसी में उपनिषदों का अनुवाद कराया था। और एक प्रकार से वह हरराय का भक्त भी था। किसी समय दाराशिकोह बीमार पड़ा था, गुरु हरराय की भेजी हुई औषधि से वह अच्छा हुआ। सन् १६५८ में जब कि औरंगजेब की सेना

दारा का बड़े वेग से पीछा कर रही थी, उस समय दारा ने हरराय से सहायता मांगी। गुरु ने अपनी एक सेना भेजी, जिसने व्यास नदी पर औरंगजेब की सेना से युद्ध किया और उसे नदीपार करने से उस समय तक रोक रक्खा जब तक दारा एक अधिक रक्षित स्थान पर न पहुँच गया।

औरंगजेब ऐसा मनुष्य न था जो गुरु के इस व्यवहार को भूल जाता। दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठते ही उसने गुरु को अपने दरबार में बुलाया। गुरु ने स्वयं दरबार में न जाकर अपने बड़े पुत्र* रामराय को भेजा। बादशाह औरंगजेब ने

---

* कनिंगहम, लतीफ तथा और कई इतिहासलेखकों ने लिखा है कि रामराय दासीपुत्र होने के कारण, गद्दी से वंचित किया गया। सिक्खों के ग्रन्थों के देखने से पता लगता है और गोकुलचंद नारंग ने भी लिखा है कि हरराय को चार पत्नियाँ थीं, वे सब आपस में बहिनें थीं। अर्थात् एक ही माता पिता की पुत्रियाँ थीं। सिक्ख लेखक उन चारों बांदियों के नाम भी देते हैं जो उन चारों पत्नियों के साथ आई थीं, पर यह कहीं पता नहीं लगता कि रामराय दासीपुत्र था। मालूम होता है कि रामराय बड़ा चलता दरबारी था। ग्रंथसाहब में एक पद्य है जिसका अर्थ यह है—"एक कुम्हार ने मुसलमान के शरीर की मिट्टी बनाई, और उससे ईंटे और बर्तन बना कर आवें में रक्खे। जब आग लगी तो उसमें से हाहाकार के शब्द सुनाई दिए"। बादशाह ने रामराय से पूछा कि सिक्खों ने मुसलमान शब्द का क्यों व्यवहार किया है, तो चतुर लड़के ने कहा कि यहाँ पर बेईमान शब्द होना चाहिए था, पर लिखनेवाले की भूल से मुसलमान हो गया

रामराय से अच्छा व्यवहार किया, परन्तु उसे दरबार में इस लिये रोक रखा कि उसका बाप पंजाब में शांति बनाए रक्खे।

गुरु हरराय ने फिर कभी शस्त्र नहीं उठाया। वे अपने प्रचार का कार्य्य शांतिपूर्वक करते रहे। कई अच्छे और नामी घरानों को उन्होंने सिक्ख मत की दीक्षा दी थी। गुरु हरगोविंद ने तेंतीस वर्ष और छः महीने तक शासन किया था।

है। बादशाह इस उत्तर से प्रसन्न हुए, पर गुरु इतने नाराज हुए कि इस उत्तर के कारण उन्होंने रामराय को गद्दी से वञ्चित कर दिया। औरंगजेब के दरबार में रहने से रामराय सिक्खों का द्वेषी हो गया था। सभवतः औरंगजेब ने रामराय को अपने दरबार में रखकर "Divide and rule" अर्थात् फूट उत्पन्न करके शासन करने की नीति का अवलंबन किया था, क्योंकि रामराय ने औरंगजेब के दरबार में रहते समय अपने स्वभाव का ऐसा ही परिचय दिया था। वह औरंगजेब के हाथ की कठपुतली बन गया।

(४) असामयिक मृत्यु

खिल के गुलदो दिन बागे जहां दिखला गए ।
हसरत उन गुंचों पै है जो बे-खिले कुम्हला गये ।

गुरु हरराय की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र रामराय ने गुरुगद्दी प्राप्त करने के लिए झगड़ा मचाया । गुरु अपने छोटे पुत्र हरकिशन को गद्दी पर बैठने के लिये कह गए थे। गद्दी का झगड़ा बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़ा कि स्वयं बादशाह को इसका निर्णय करना पड़ा । कहते हैं कि सिक्ख लोग हर-किशन को लेकर बादशाह के दरबार में गए, वहाँ पर बादशाह के जनाने में बहुत सी स्त्रियाँ एक से एक कपड़े पहने हुई थीं, हरकिशन से पूछा गया कि इन स्त्रियों में कौन सी बेगम है ? तब उन्होंने उन स्त्रियों में असली बेगम को बतला दिया ।* इस पर प्रसन्न हो कर औरंगजेब ने हरकिशन को ही गुरु निर्व्वाचित किया । सिक्ख लेखकों ने हरकिशन की बुद्धिमत्ता की बहुत सी बातें लिखी हैं । परन्तु गुरु हरकिशन बहुत दिन तक जीवित नहीं रहे । बाल्यावस्था में ही शीतला रोग से १४ वीं

---

* औरंगजेब कुटिल राजनीतिज्ञ था । संभव है हरकिशन को गद्दी पर बैठाने का उसका आंतरिक अभिप्राय यह हो की बालक गुरु के नेतृत्व में सिक्ख लोग विशेष बल प्राप्त न कर सकेंगे । दूसरे वह रामराय की चालाकी भी अपने दरबार में देख चुका था । तीसरे उसने सोचा होगा कि रामराय को दरबार में रखने से सिक्खों के भेद का पता लगता रहेगा ।

मार्च सन् १६६४ को देहांत हो गया । खिलने से पहले ही गुलाब का फूल मुरझा गया !

कनिंगहम साहब ने गुरु हरकिशन की बुद्धिमत्ता का एक और उदाहरण लिखा है कि वे मरते समय सिक्खों को इशारे से बतला गए थे कि भविष्य गुरु विपाशा नदी किनारे गए-डीवाल के निकटवर्ती "बाकाला" गाँव में दिखाई देंगे । हर-किशन का इशारा अपने पितामह के भाई तेगबहादुर की ओर था ।

तृतीय खंड

(१) बलिदान का प्रारंभ

"Were a star quenched on high
For ages would its light
Still travelling downward from the sky
Shine on mortal sight.
So when a great man dies
For years beyond our ken
The light he leaves behind him lies
Upon the paths of men."

—Longfellow.

जिस समय गुरु तेग़बहादुर गुरुगद्दी पर बैठे, उस समय जातिद्रोही रामराय औरंगजेब के दरबार में अपनी कुत्सित, पापिष्ट लालसा को पूर्ण करने की चेष्टा कर रहा था; सिक्खों के प्रति धर्मांध औरंगजेब के कान भर रहा था। इसलिये गुरु तेग़-बहादुर को गद्दी पर बैठते ही बड़े-बड़े संकटों का सामना करना पड़ा। अंत में अपने प्रतिद्वंदी रामराय के षड्यंत्र में पड़ कर ही उन्हें धर्म पर बलिदान होना पड़ा था।

गुरु तेग़बहादुर बड़े शांत स्वभाव के मनुष्य थे। यद्यपि वे अपने पिता के साथ कई लड़ाईयों में गए थे और उन्होंने अपनी वीरता का भी परिचय दिया था, तथापि वे स्वभावतः शांतिप्रिय थे। उनका अधिकांश समय अतिथियों की सेवा आदि में व्यतीत होता था। वे बहुत शीघ्र लोकप्रिय हो गए और दूर दूर से सिक्ख लोग आकर इकट्ठे होने लगे। यद्यपि वे स्वयं सादे

स्वभाव से रहते थे, पर उनके दरबार की अनुपम शोभा थी। सिक्ख लोग उन्हें "सच्चा बादशाह" कहते थे। उनका प्रतिपक्षी रामराय, औरंगजेब को सदैव भड़काता ही रहता था, उधर औरंगजेब भी तेग़बहादुर को इस्लाम मत के प्रचार में कंटक स्वरुप समझता था। यह बात सोचकर धर्मांध औरंगजेब ने गुरु तेग़बहादुर पर शांति भंग का अपराध लगाया। गुरु तेग़बहादुर इस अपराध से अभियुक्त हो, दिल्ली पहुँचाए गए। परंतु जयपुर का * राजा गुरु के भक्तों में से था। उसने औरंगजेब को समझाया कि "ऐसे ऐसे महात्मा लोग तो राज्याकांक्षा की अपेक्षा तीर्थयात्रा करना अधिक उत्तम समझते हैं; और मैं अपनी बंगयात्रा के समय गुरुजी को अपने साथ ले जाऊँगा।" गुरु राजा के साथ पूर्व की ओर गए थे। कहते हैं गुरु ने जयपुर के राजा को इस चढ़ाई में बहुत सहायता दी थी। आसाम पर राजा को विजय प्राप्त हुई। आसाम के राजा ने सिक्ख मत की दीक्षा भी ग्रहण कर ली थी। वहाँ से आकर वे पटने में रहने लगे। पटने में ही उनके पुत्र गोविंदसिंह का

---

* जयपुर का राजा कौन था? इस विषय में इतिहास लेखकों का मतभेद है। समस्त इतिहास लेखकों ने जयसिंह का नाम लिखा है। टाड ने राजस्थान में आसाम पर चढ़ाई करनेवाले राजा का नाम रायसिंह लिखा है, जो जयपुर नरेश जयसिंह का लड़का था। "पंथप्रकाश" में लिखा है कि आसाम पर जयसिंह के पुत्र राजा किसनसिंह ने चढ़ाई की थी। डाक्टर गोकुलचंद नारंग कहते हैं कि संभव है कि दोनों राजकुमार वहाँ गए हों। कनिंगहम साहब अपने इतिहास में टाड के मत का ही प्रतिपादन करते हैं।

जन्म हुआ था। इसके पीछे गुरु तेग़बहादुर पंजाब लौट आए और वहाँ शांतिपूर्वक रहने लगे।

पर इतने पर भी उनके दिन शांतिपूर्वक व्यतीत नहीं होने लगे। पंजाब में आने पर सिक्ख लोग फिर इकट्ठे होने लगे। सुना जाता है कि तेग़बहादुर ने एक परमोत्साही मुसलमान फ़कीर हाफिज़ आदम नामी को भी अपने साथ गाँठ रखा था और इस प्रकार वे स्वयं धनाढ्य हिंदुओं से कर उगाहते थे। मुसलमान फ़कीर धनाढ्य मुसलमानों से कर उगाहता था। कुलकलंक रामराय ने फिर षड्यंत्र रचा। उसने औरंगजेब के कान गुरु के विरुद्ध भरने फिर शुरू किए। बादशाही सेना ने गुरु पर चढ़ाई की और अंत में वे शाही सेना से हार गए। सेना ने फ़कीर और गुरु दोनों को कैद कर लिया। मुसलमान फ़कीर को देश से निर्व्वासित कर दिया गया। पर औरंगजेब ने गुरु तेग़बहादुर का वध करना निश्चय कर लिया था; क्योंकि उसने सोचा होगा कि गुरु तेग़बहादुर के वध करने से सिक्खों का बढ़ता हुआ बल नष्ट हो जायगा।

कहते हैं कि दिल्ली जाने के समय तेग़बहादुर ने अपने पुत्र गोविंदसिंह को बुलाया। गुरु हरगोविंद की तलवार गोविंद-सिंह को देकर वे अपने सामने ही उन्हें गुरु पद दे गए। जाने से पहले उन्होंने अपने पुत्र से कहा—"दुश्मन मुझे हत्या करने के लिए ले जा रहे हैं, मेरी मृत देह को कुत्ते खाने न पावें"। अंत में बदला और प्रतिहिंसा की उपयोगिता समझा, पुत्र को यह अंतिम संदेश दिया की बदला और प्रतिहिंसा ही पुत्र का एक मात्र कर्त्तव्य कार्य्य है। पुत्र को यह अंतिम सदेश देकर तेग़बहादुर दिल्ली पहुँच गए। दिल्ली में पहुँचने पर औरंगजेब ने उन्हें चमत्कार और लौकिक कार्य दिखलाने की आज्ञा की।

साथ ही उनसे इस्लाम मत को ग्रहण करने के लिये कहा; और भी कई प्रकार के भय और लालच बादशाह ने उनको दिखलाए। उन्होंने बादशाह के प्रश्नों के उत्तर में केवल इतना ही कहा–"सर्व शक्तिमान जगदीश्वर की ही उपासना करना मनुष्य का कर्त्तव्य है"। बस यह कह उन्होंने अपनी गर्दन जल्लाद के आगे झुका दी। उस समय उनके चेहरे पर घबराहट का कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता था। वे शांतिपूर्वक खड़े रहे। थोड़े समय में ही जल्लाद की तलवार उनकी गर्दन पर गिरी। सिर धड़ से अलग हो गया। सब देखते के देखते रह गए। गुरु तेग़बहादुर को मरते समय प्रसन्न और निर्भीक चित्त देख कर बादशाह औरंगजेब आश्चर्य्य और भय सागर में डूब गया। उसकी उत्कट लालसा हुई कि तेग़बहादुर के गले में बँधे हुए काग़ज़ पर क्या लिखा हुआ है, देखे? उनकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही जब लिखा हुआ काग़ज़ खोल कर देखा गया तो उसमें लिखा हुआ था–"सिर दिया पर सार न दिया"। अर्थात् "मैंने अपना सिर दे दिया पर धर्म नहीं दिया"। इस भाँति गुरु तेग़बहादुर के जीवन का अंत हुआ। किंतु उनकी बलि से सिक्ख समाज में नहीं बल्कि तत्कालीन हिंदू संसार में नवशक्ति और दिव्य ज्ञान का संचार हुआ। उत्तर भारत के हिंदुओं में गुरु तेग़बहादुर का विशेष मान था। पंजाब के कृषक उनकी पूजा करते थे, राजपूताने के कितने ही नरेश उनका आदर करते थे। तेग़बहादुर की मृत्यु ने उनके सब कामों से बढ़कर कार्य किया। समस्त पंजाब में क्रोध और प्रतिकार की अग्नि भड़क उठी। गुरु तेग़बहादुर की मृत्यु को हिंदुओं ने धर्म पर बलिदान समझा। सैकड़ों वर्ष से पददलित होने पर भी हिंदुओं में तेग़बहादुर की मृत्यु ने

नवजीवन उत्पन्न कर दिया। यह ऐसी घटना हुई कि जिससे उनकी सूखी हड्डियों में खून खौलने लगा। सच पूछिए तो औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर का वध कर के मुग़लसाम्राज्य के निष्कंटक पथ में कांटे उत्पन्न कर लिए। हिंदुओं ने विशेषतः सिक्खों ने गुरु तेग़बहादुर की हत्या के प्रतिशोध और प्रतिकार में किन किन उपायों का अवलंबन किया था, उसका परिणाम क्या हुआ ? इसका परिचय आगे के परिच्छेदों के पढ़ने पर प्राप्त होगा। हमें यहाँ पर इतना ही कहना है कि गुरु तेग़बहादुर की मृत्यु मुग़ल साम्राज्य के लिए अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारने के समान हुई।

---

(२) भीष्म प्रतिज्ञा और पूर्णाहुति

सुन्यौ मित्र ! मति भेद कर, शत्रु कियो जो हाल ।
पिता मरन को मोहि दुख, दुगुन भयो एहि काल ॥

—भारतेन्दु हरिश्चंद्र ।

हम रूखे टुकड़े खायेंगे, भारत पर वारे जायेंगे ।
हम सूखे चने चबायेंगे, भारत की बात बनायेंगे ॥
हम नगे उमर बितायेंगे, भारत पर जान मिटायेंगे ।
शोलों पर दौड़े जायेंगे, काँटों को राख बनायेंगे ॥
हम दर दर धक्के खायेंगे, आनंद की झलक दिखायेंगे ।
सब रिश्ते नाते तोड़ेंगे, दिल आतम संग जोड़ेंगे ॥
सब विषयों से मुँह मोड़ेंगे, सर सब पापों का फोड़ेंगे"* ॥ १ ॥

—स्वामी राम ।

† गुरु गोविंदसिंह अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर अत्यन्त दुःखी हुए, पर वे इस दुःख से अधीर नहीं हुए । जिस भाँति स्काटलैंड के महारथी वालेस ने अपनी

---

* स्वर्गीय स्वामी रामतीर्थ के राष्ट्रीय संदेह से उद्धृत ।

† गुरु गोविंदसिंह का जन्म पटना नगर में सन् १६६१ ई० में हुआ था । पिता की मृत्यु के समय उनकी परिस्थिति मुगल साम्राज्य के प्रति विरोध ठानने की नहीं थी । उस समय खुल्लम-खुल्ला मुगल साम्रज्य के प्रति गोविंदसिंह का विरोध ठानना, सर्प का पर्वत पर सिर पटकने के समान था । गुरु गोविंदसिंह ने पिता की मृत्यु के पश्चात् कुछ दिनों तक एकांत सेवन किया । फारसी

प्राण प्यारी पत्नी के क़तल होने पर अपने शत्रुओं को काटने की भीष्म प्रतिज्ञा की थी वैसे ही गुरु गोविंदसिंह ने बालक होने पर भी अपने पिता की दुःखदायिनी मृत्यु से शोकाकुल होकर कठिन व्रत धारण किया। उन्होंने अपने सिक्खों को इकट्ठा कर ओजस्वी शब्दों में कहा—"भाइयों! हम सब यह दारुण समाचार सुन चुके हैं कि पिता दिल्ली में मारे गए हैं। अब मैं इस संसार में अकेला हूँ। मेरी आंतरिक इच्छा पिता की मृत्यु का बदला लेने की है। * क्या तुम में से कोई ऐसा

और संस्कृत के कितने ही नामी नामी विद्वानों को अपने पास रख कर उन्होंने शिक्षा प्राप्त कराई और सिक्ख समाज का सुदृढ़ संगठन किया। उन्होंने सिक्ख समाज में पाँच ककार—कंघी, केश, कच्छा, कृपाण (तलवार) प्रभृति प्रचलित किए थे।

* पीछे हम गुरु तेग़बहादुर की मृत्यु के वृत्तान्त में लिख आए हैं कि गुरु तेग़बहादुर ने गोविंदसिंह से जाते समय कहा था—"यदि दिल्ली में मेरी मृत्यु हो जाय, तो शोक से अधीर न होना। मृत्यु के पीछे मेरे शव को कुत्ते गीदड़ न खायँ। और समय पाकर मेरी मृत्यु का बदला भी लेना।" गोविंदसिंह ने अपने पिता की इस आज्ञा का पालन किया। कनिंगहम साहब लिखते हैं—"अपवित्र घृणित मेहतर जाति के कई आदमी तेग़बहादुर की छिन्न भिन्न देह को दिल्ली से लाने के लिये भेजे गए थे। मकुन शाह नामक जिस आदमी ने मृत गुरु को गुरु कहकर माना था, उसकी बहुत कुछ चेष्टा से शिष्य लोग गुरु की मृत देह लाने में समर्थ हुए थे।

वीर है जो पिता के शव को दिल्ली से यहाँ ले आवे।" गुरु गोविंदसिंह के इन जोशीले शब्दों को सुन कर एक सिक्ख दिल्ली पहुँचा और गुरु के शव को पंजाब ले आया। सिक्खों ने गुरु तेगबहादुर के मस्तक का खूब सत्कार किया, फिर धूमधाम से अंत्येष्टि क्रिया की। यद्यपि इस समय गुरु गोविन्दसिंह की अवस्था १४-१५ वर्ष की थी, तथापि उन्होंने बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। सांसारिक विषय वासना से चित्त को हटा कर वे अपने कार्य के साधन में जुट गए। यमुना तट पर उन्होंने तप करना आरंभ किया। वे अस्त्र शस्त्र विद्या में निपुण होने की चेष्टा करते रहे। फ़ारसी भाषा के सीखने तथा हिंदू जाति के इतिहास के मनन करने में वे अपना अधिक समय बिताने लगे। महात्मा गुरु गोविंदसिंह का स्वार्थत्याग और आत्मत्याग अपूर्व था। वे दृढ़ता, स्वार्थत्याग, आत्मत्याग और वीरता आदि सब गुणों की खान थे। मेजिनी की भाँति सदव उनको चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न हो, अपने कर्त्तव्य पालन की चिंता रहती थी। गैरीबाल्डी और महाराणा प्रतापसिंह की भाँति वे अपनी प्रतिज्ञा से टलनेवाले नहीं थे। वालेस और शिवाजी की भाँति वे निडर थे। शस्त्र और शास्त्र दोनों में योग्यता और निपुणता प्राप्त हो जाने पर उन्होंने अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करना आरंभ किया था। कहने का सारांश यह है कि वे क्रियाशील और विचारशील दोनों थे। विद्या और तप की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने सिक्खों को बाबा नानक के धर्म संबंधी गहन, गंभीर विचारों को समझाना आरंभ कर दिया

किसी किसी इतिहास लेखक ने लिखा है कि एक भिश्ती और उसका बेटा तेगबहादुर की मृत देह उठा लाए थे।

था। गुरु अर्जुन और गुरु हरगोविंद दोनों की इच्छा थी कि सिक्खों में क्षात्र धर्म का विस्तार हो, सिक्ख जाति युद्ध संबंधी विषयों की पूरी जानकारी प्राप्त करे, सिक्ख जाति सैनिक जाति हो जावे। परंतु उन दोनों गुरुओं को अपने महान् उद्देश्य में पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उक्त दोनों गुरु जिस ढंग से सिक्ख समाज का सैनिक संगठन करना चाहते थे, उसमें वे सफल-मनोरथ न हुए। किंतु महात्मा गोविंदसिंह ने अपने चरित्र्य बल से और गुरु तेगबहादुर की मृत्यु से सिक्खों में कुछ ऐसी विलक्षण, विद्युत् शक्ति संचारित कर दी थी जिस से सिक्ख महाबली हो गए थे। उनके महामंत्र से सिक्ख मंडली सजीव हो उठी थी जिससे वह महा पराक्रमी मुसलमानी साम्राज्य की शक्ति को उच्छेद करने में समर्थ हुई। हमारी समझ में इसके दो मुख्य कारण थे, प्रथम तो उनके पिता की शोचनीय मृत्यु हुई थी, दूसरे उन्होंने कठिन तपस्या की थी। यदि वे संसार के तुच्छ सुखों में फँसे रहते तो इसमें संदेह है कि वे अपने महाव्रत में सफल होते या नहीं। सांसारिक ऐश्वर्य उनको अपने कठिन व्रत से हटा नहीं सका। गृहस्थ होने पर भी वे पूरे संन्यासी थे। जिस जिस भाँति महाराणा प्रतापसिंह ने चित्तौर के उद्धार के लिये अपने समस्त सुखों पर लात मार दी थी, वैसे ही गुरु गोविंदसिंह ने अपने देश की दुर्दशा के कारण अपनी सब संपत्ति सतलज नदी में फेंक दी। एक समय गुरु गोविंदसिंह के एक भक्त सिक्ख ने सिंधु देश से बहुमूल्य बड़े सुंदर कंगन ला कर दिए। पहले तो गुरु गोविंदसिंह ने उन दोनों कंगनों को लेना स्वीकार ही नहीं किया; परंतु अंत में सिक्खों के विशेष आग्रह करने पर वे उन कंगनों को हाथ में पहरने को लाचार हुए। किंतु थोड़ी देर के बाद ही उन्होंने

पास ही नदी में एक कंगन फेंक दिया। शिष्य ने गुरु के एक हाथ को कंगन से सूना देख कर उसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया वह जल में गिर पड़ा है। इस पर शिष्य ने एक गोतेखोर को बुलाया और कहा कि यदि उस कंगन को निकाल लाओगे तो पाँच सौ रुपया इनाम दूँगा। गोतेखोर से इतना कह कर, गुरु से बड़े भक्तिपूर्वक उसने निवेदन किया कि नदी में कौन से स्थान पर कंगन गिरा है, कृपया यह बात गोतेखोर को बतला दीजिए। गुरु अपने शिष्य के इस अनुरोध से शिष्य और गोतेखोरे के साथ नदी तट पर गए, वहाँ पर बड़े शान्त भाव से जल की ओर देखते हुए* दूसरा कंगन भी हाथ से उतार कर उन्होंने फेंक दिया और कहा कि कहीं यहीं पर गिरा होगा। शिष्य को गुरु का ऐसा वैराग्य देखकर नवीन विचार स्फुरित हुए। उसने अपने सब प्रकार के भोग विलासों का परित्याग कर सादगी से जीवन व्यतीत करना आरंभ कर दिया। उनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उनके चरित्र का बल ऐसा था कि जिस से लोग उनके बिना दाम के गुलाम हो जाते थे। गुरु गोविंदसिंह का हुक्म सिक्खों में विधाता की लकीर के समान था। जो कुछ वे आज्ञा करते थे, वह तत्काल पूरी की जाती थी। पाठक यह न समझें कि सिक्ख लोग भय अथवा अन्य किसी दबाव से गुरु की आज्ञा पालन करते थे। नहीं, वे भक्तिपूर्वक गुरु की आज्ञा पालन करते थे। सिक्खों की गुरु गोविंदसिंह के प्रति ऐसी ही आंतरिक भक्ति थी। जिस समय वे अपने

---

* M. C. Gregor ने एक एक कंगन का मूल्य पच्चीस हजार रुपया लिखा है।

सिक्खों से जो कुछ कहते थे, उसको उस समय ही बिना किसी संकोच के सिक्ख लोग पालन करने को तैयार हो जाते थे। सिक्खों की गुरु गोविंदसिंह के प्रति कैसी भक्ति थी, उसका परिचय पाठकों को इस घटना से मिलेगा। दाला नामक एक व्यक्ति जिसके यहाँ बहुत से बहादुर सिपाही नौकर थे, प्रायः गुरु गोविंदसिंह से बड़ी शेखी से कहा करता था—"यदि कोई लड़ाई का समय आया और मुझे आज्ञा हुई तो मैं अपने अगणित योद्धाओं के साथ युद्धक्षेत्र में सेवा करूँगा"। गुरु गोविंदसिंह दाला के कथन की परीक्षा करना ही चाहते थे कि एक दिन उनके एक शिष्य ने एक तलवार, एक पिस्तौल और एक बंदूक उनको भेंट की। दाला भी वहीं पर मौजूद था। उन्होंने उससे अपने किसी नौकर को बुलाने के लिये कहा कि जिस पर बंदूक का निशाना जाँचा जावे। गुरु की इस आज्ञा को सुनते ही दाला ने अपने डेरे में ऐसा नौकर ढूँढ़ा जिस पर बंदूक का निशाना जाँचा जाय पर कोई नहीं मिला। उसके किसी नौकर ने, निशाने से मरना स्वीकार नहीं किया। अपने नौकरों में आत्मिक बल का अभाव देख दाला लज्जावश गुरु के सामने सिर झुका कर खड़ा हो गया। उन्होंने दाला की यह दशा देख कर अपने नौकर को यह आज्ञा दी कि जो सिक्ख समीप हो, उससे यह हाल कहो। नौकर ने वैसा ही किया। एक वृक्ष के नीचे दो सिक्ख अधूरी पोशाक पहने हुए बैठे थे, वे गुरुजी की आज्ञा सुन कर शीघ्र ही गुरुजी के सामने आए। उन दोनों में से प्रत्येक की हार्दिक इच्छा थी कि गुरुजी का निशाना पहले मैं बनूँ! गुरु ने कहा—"मुझे केवल एक आदमी की आवश्यकता है।" उन्होंने उत्तर दिया कि "नौकर ने किसी सिक्ख के लिये आवाज दी थी, सो हम

दोनों ने सुनी, और अब गुरुजी के चरणों में अपने प्राण समर्पण करने को तैयार हैं। इससे विशेष हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि गुरुजी के हाथ से मारे जाकर सद्‌गति को प्राप्त हों"। गुरु गोविंदसिंह को किसी के प्राण तो लेने थे ही नहीं, उन्हें तो केवल यही परीक्षा करनी थी कि कौन किसका साथ दे सकता है ? बस इतनी जाँच करके उन्होंने बंदूक रख दी और दोनों सिक्खों को समझा बुझा कर अलग कर दिया। सिक्खों में उनका यह प्रभाव देख कर दाता चकित हुआ और भक्तिपूर्वक गोविंदसिंह के चरणों में लेट गया। इससे बढ़कर उनके उच्च चरित्र का क्या नमूना हो सकता है ? ऐसी ऐसी घटनाओं से ज्ञात होता है कि गुरु के अनुयायी गुरु को परमेश्वर का भेजा हुआ समझते थे।

गुरु गोविंदसिंह ने हिंदू समाज की विशेषतः सिक्ख समाज की बिखरी हुई शक्तियों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। कहते हैं, उन्होंने पहले कुल अपने अनुयायियों को एक ब्राह्मण पंडित के पास संस्कृत पढ़ने के लिये भेजा। उसने उन लोगों को ब्राह्मण न होने के कारण संस्कृत पढ़ाना स्वीकार नहीं किया। गुरु को यह बात बहुत बुरी लगी। वे सोचने लगे कि जब तक जाति पाँति का मिथ्या अहंकार दूर न किया जायगा तब तक सिक्ख समाज में एकता और राष्ट्रीय भाव उत्पन्न न होंगे। उन्होंने कहा कि सिक्ख समाज में छुटाई, बड़ाई का ध्यान न रखना चाहिए, सब समान हैं, सब भाई हैं। चारों जाति समान हैं। जिस तरह चूना, कत्था, सुपारी और पान चारों के मिलने से पान स्वादिष्ट होता है वैसे ही चारों जातियों से समाज का संगठन होता है। इस तरह से उन्होंने सिक्ख समाज में से छोटे बड़े का भाव मिटा दिया। यह उपदेश करके ही गुरु गोविंद-

सिंह चुप नहीं हुए, उन्होंने सब श्रेणी के मनुष्यों को धर्म की शिक्षा देना आरंभ कर दिया। सिक्ख धर्म की दीक्षा लेते समय प्रत्येक मनुष्य अमृत चखता था। एक दिन गुरु केशगढ़ पहाड़ी पर डेरा लगाए हुए पड़े थे, उन्होंने समस्त अनुयायियों को एकत्रित कर उन्हें उपदेश दिया; और उपदेश की समाप्ति पर उन्होंने अपनी तलवार निकाल ली और चिल्ला कर कहा कि—"यह देवी अर्थात् खड्ग मुझसे एक सिर माँगती है। क्या कोई सिक्ख अपना सिर देवी को भेंट करने के लिये तैयार है?" गुरु के इस कथन पर सारी सभा में सन्नाटा छा गया। किसी ने चूँ तक नहीं किया, सिर्फ एक दयाराम नामक मनुष्य आगे बढ़ा। गुरु उसका हाथ पकड़ कर अपने स्थान में ले गए, जहाँ पहले से एक बकरा बँधा हुआ था। गुरु ने वीर दयाराम को डेरे में बैठा दिया और अपने हाथ से बकरे को मार कर उसके लोहू में भरी हुई तलवार हाथ में ले कर वे बाहर निकल आए और तलवार को हवा में चारों ओर घुमा कर बोले—"भाइयो! देवी एक और बलिदान की इच्छा करती है"। इस पर एक और सिक्ख आगे बढ़ा। फिर इसके बाद तीसरे, चौथे और पाँचवें सिक्ख बढ़े। गुरु अपने अनुयायियों की ऐसी दृढ़ और अभूत-पूर्व भक्ति देखकर प्रसन्न हुए। वे उन पाँचों सिक्खों को जीते जागते, स्वस्थ और प्रसन्न-मुख सभा स्थल में लाए। इस पर उपस्थित जन-मंडली को आश्चर्य हुआ। गुरुजी ने कहा कि यह बहुत अच्छा सगुन हुआ है। खालसा की विजय निस्संदेह होगी। जितने सिक्ख वहाँ बैठे थे, वे सब गुरु की तलवार के सामने सिर न देने के लिये लज्जित हुए।

जो लोग गुरु की तलवार के सामने सिर झुकाने को तैयार हुए थे उनमें से एक खत्री था और बाकी के वे लोग थे,

जिनको शूद्र कहा जाता है। पर गुरु ने उन्हें "पंज प्यारा" कह कर पुकारा और उस रीति के अनुसार जो उन्होंने सिक्खों को दीक्षा देने के लिये निकाल रक्खी थी, उन्हें दीक्षा दी। गुरु ने उन सब को एक से ही अधिकार और कर्त्तव्य बतलाए, और नये बंधुत्व में सम्मिलित होने के चिह्न रूप उन सब ने इकट्ठे बैठ कर भोजन किया। पर गुरु के विचार यहीं तक सार्वलौकिक समता के संबंध में नहीं थे। केवल अपने अनुयायियों के बीच की समता से ही वे संतुष्ट न हो सके थे। उनके सम्प्रदाय में नेता अथवा मुखिया के विशेष अधिकारों के लिये भी कोई स्थान नहीं था। उन्होंने अपने पहले "पज प्यारे" शिष्यों से स्वय दीक्षा ली थी। इसके थोड़े दिन पीछे ही गुरु ने अपने समस्त अनुयायियों को क महासभा की और उसमें अपने नये सिद्धांतों को सब के सम्मुख प्रकट किया। इस भाँति उन्होंने जाति पाँति से होनेवाले पक्षपात को मिटाने और धर्म संबंधी सार्वलौकिक समता को स्थापन करने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिक्ख समाज के सगठन करने के लिये ये आज्ञाएँ और भी की थीं।

(१) समस्त सिक्खों के नामों का अंत एक प्रकार से होगा, जैसा अब तक होता है।

(२) सब को एक प्रकार से ही एक दूसरे को अभिवंदन करना होगा।

(३) ग्रंथ साहब के अतिरिक्त किसी दूसरे बाह्य पदार्थ को सिर न नवाया जायगा।

(४) सिक्खों का मुख्य तीर्थस्थान अमृतसर होगा। सब श्रेणी के सिक्खों को चाहे ब्राह्मण हो, चाहे अंत्यज, अमृतसर के तालाब में स्नान करने और हरि मंदिर में पूजा करने का अधिकार है।

(५) कोई सिक्ख कभी तंबाकू न पीए, सब पगड़ी बाँधें और सब सदा निम्नलिखित पाँच ककार अपने पास रक्खें अर्थात् केश, कंघा, कृपाण, कड़ा और कच्छ। इस भाँति गुरु ने सिक्ख समाज में राष्ट्र भाव उत्पन्न किए थे।

इस भाँति सिक्ख समाज को एकता के सूत्र में आबद्ध कर के, वे देश-शत्रुओं का समूल उच्छेद करने के उपाय सोचने लगे। पहले उन्होंने पहाड़ी स्थानों पर दो तीन किले बनवाये, फिर उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने की ठानी। इस समय सहस्रों व्यक्ति गुरु के साथ समर क्षेत्र में जाने और उनकी पताका के नीचे मरने में अपना परम सौभाग्य समझते थे। उन्होंने पाँच सौ पठान नौकर रख लिए थे, जो गुरु की घुड़सवार सेना का एक भाग बन गए थे। पहले उन्होंने कई पहाड़ी राजाओं को एक सम्मिलित सेना से परास्त कर के उनके गर्व को चूर्ण किया। पहाड़ी राजाओं ने गुरु से संधि कर ली और गुरु की शक्ति के भरोसे उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध करना आरंभ कर दिया और सम्राट् की सेवा में अपना वार्षिक कर भेजना बंद कर दिया। इस समय औरंगजेब दक्षिण के युद्धों में व्यस्त था, इस कारण उसने कई वर्ष तक किसी राजा के साथ झगड़ा नहीं किया। किन्तु दक्षिण से लौटते ही औरंगजेब ने अपने कई सरदारों के अधीन एक बहुत बड़ी सेना राजाओं से पिछले वर्षों के कर उगाहने के लिये भेजी। नादौन के निकट बादशाही सेना को राजाओं ने खालसा सेना की सहायता से परास्त कर दिया। इस पराजय से काँगड़ा के शासक दिलावर खाँ को बड़ा क्रोध आया और उसने स्वयं एक बड़ी सेना ले कर राजाओं पर आक्रमण किया और अपने पुत्र रुस्तम खाँ को बहुत बड़ी सेना के साथ राजाओं की सहा-

यता करने के अपराध में गुरु को दमन करने के लिए भेजा। रुस्तम खाँ आनंदपुर के बाहर डेरे लगाए पड़ा था, एक रात्रि को अत्यंत वेग के साथ वर्षा हुई और पास पास के नालों मे जल इतना चढ़ आया कि जिस से शाही सेना के बहुत से सैनिक बह गए। इस कारण रुस्तम खाँ को शीघ्रता से लौटना पड़ा। जब औरंगजेब ने ये सब समाचार सुने तो आगबबूला हो कर उसने शाहज़ादा मुअज्जम को पंजाबी राजाओं से कर वसूल करने तथा विद्रोहियों को दंड देने के लिए भेजा। लाहौर पहुँच कर शाहज़ादे ने गुरु तथा राजाओं को दंड देने के लिये मिरज़ा वेग के अधीन एक सेना भेजी। इस सेना को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई, जिससे शाहज़ादा बड़ा निराश और क्रोधित हुआ। अब उसने स्वयं युद्धक्षेत्र मे प्रवेश करने का संकल्प किया। किंतु शाहज़ादे का मंत्री नंदलाल गुरु के अनुयायियों में से था, उसने शाहज़ादे को गुरु की ओर से समझा बुझा दिया इससे गुरु तो बच गए, परंतु शाही सेनापती मिरज़ा वेग ने राजाओं का दमन किया। उसने राजाओं को बड़ी बड़ी कठोर यंत्रणाएँ दीं, उनके गाँवों मे आग लगवा दी, सैकड़ों को बंदी कर दिया। दूसरों को शिक्षा देने के लिये उनके सिर आदिक मुँड़वा कर, मुँह काले कर, गधों पर चढ़ा समस्त देश में फिरवाया। भला फिर राजाओं की क्या ताब थी कि ऐसी ऐसी यंत्रणाएँ प्राप्त होने पर भी ठहरते। उन्होंने खुल्लम खुल्ला बड़ी बुरी तरह से मुआफी माँगी और पिछला जो कुछ राज-कर बाकी था, सब चुका दिया। इसके पश्चात् गुरु ने राजाओं को फिर जातीयता के नाम पर उभारना चाहा था, पर वे मिरज़ा वेग के अत्याचारों से इतने भयभीत हो गए थे कि उन को फिर शाही सेना से मुकाबला करने का साहस नहीं हुआ।

उन्होंने गुरु की बात पर ध्यान नहीं दिया। गुरु ने पुनः अपने अनुयायियों को पहाड़ी रियासतों पर छोड़ दिया, परिणाम यह हुआ कि सिक्खों ने पहाड़ी राज्यों में लूट खसौट आरंभ कर दी। राजाओं को बड़ी बड़ी कठोर यंत्रणाएँ मिलने लगीं। उन्होंने फिर एक बार आपस में संधि करके बीस हजार योद्धाओं सहित गुरु का मुकाबला किया। आनंदपुर के पास लड़ाई हुई। राजाओं की सम्मिलित सेना गुरु की सेना के सामने ठहर न सकी। खालसा सेना से परास्त होकर पहाड़ी राजाओं ने बादशाह औरंगजेब की सेवा में एक प्रार्थना-पत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि "गुरु ने राजत्व के चिह्न धारण कर लिए हैं और वे अपने को सच्चा बादशाह कहते हैं।" इस प्रार्थना-पत्र पर औरंगजेब ने सरहिंद के सूबेदार को यह आज्ञा दी कि "तुम स्वयं जाकर गुरु से युद्ध करो और उन्हें दंड दो"। औरंगजेब की इस आज्ञा के कारण सरहिंद के शासक ने एक प्रबल सेना सहित गुरु पर आक्रमण किया। सारे पहाड़ी राजाओं ने भी सरहिंद के हाकिम का साथ दिया, दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। सिक्खों ने इस युद्ध में अपनी अभूतपूर्व वीरता का परिचय दिया। किंतु शत्रुओं की प्रबल सेना से मुट्ठी भर सिक्ख कब तक जूझते। दो दिन के लगातार युद्ध के पश्चात् सिक्ख लोग युद्ध में ठहर न सके और गुरु को आनंदपुर के किले में आश्रय लेना पड़ा और वहाँ उन्होंने अपने आप को बंद कर लिया। दुर्ग में पहुँच कर गुरु शत्रुओं से घिर गए। शाही सेना दुर्ग को चारों ओर से घेरे पड़ी रही और बाहर से दुर्ग के भीतर आना जाना सर्वथा बंद हो गया *। तृतीयाह

* पंजाब के डाक्टर गोकुलचंद नारंग ने लिखा है कि

गुरु के इस भाँति घिर जाने से शाही सेना के सेनापतियों ने गुरु के पास पैग़ाम भेजा कि शाही सेना का मुकाबला छोड़ कर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर लो। इसी में भला है; अपना धर्म परित्याग करके इस्लाम मत को ग्रहण कर लो। जिस समय शाही सेना के दूत ने ये बातें बढ़ा कर गुरु के सामने कही थीं, उस समय गुरु का बड़ा बेटा अजीतसिंह वहीं बैठा हुआ था, दूत की बातों पर उसका खून खौलने लगा। उस ने शीघ्र ही म्यान से तलवार निकाल कर दूत से कहा—"बस और इस प्रकार का और भी कोई शब्द धृष्टता का गुरु के सामने निकाला तो तेरा सिर धृष्टता के अपराध में अभी काट लूँगा और तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दूँगा"। दूत अजीत-सिंह के शब्दों को सुन कर क्रोध के मारे शाही केम्प में चला आया। गुरु जय पराजय के लिये नहीं लड़ रहे थे, धर्म के लिये लड़ रहे थे। उन्होंने मुग़लों की अधीनता स्वीकार करके, अपने उच्च सिद्धांतों को विसर्जन करना अथवा अपनी जाति को सदैव के लिये पराधीनता की बेड़ी में जकड़ना उचित नहीं समझा। इसलिए उन्होंने अपने पुत्र के कथन का खंडन नहीं किया। गुरु ने आक्रमण करनेवालों के आक्र-मण का उत्तर दिया। विशाल सेना के सामने थोड़े से सिक्ख कब तक लड़ सकते थे, किले में घिर जाने से भोजनादि की सामग्री भी नहीं पहुँच सकती थी। इस से सैनिकों को विशेष कष्ट होने लगा। लोग गुरुजी से अधीनता

लिखता है कि इस आक्रमण में सरहिंद तथा लाहौर के शासकों के साथ २२ राजा मिले हुए थे। 'पंथप्रकाश' लिखता है कि इस लड़ाई से पूर्व गुरु ने शाही सेना को कई लड़ाइयों में परास्त किया था।

स्वीकार करने के लिये कहने लगे। गुरु जी ने उन्हें बहुत समझाया, पर उनके सब साथी भाग गए, केवल उनके ४५ श्रद्धालु अनुयायी उनके साथ दुर्ग में रहे। किसी तरह का अपना उपाय चलता न देख कर और अन्न जल बिना प्राण देने की अपेक्षा गुरु गोविंदसिंह एक अँधेरी रात्रि में अवसर पाकर किले के बाहर निकले और उन्होंने यथाशक्ति दौड़ कर चमकौर के दुर्ग तक पहुँचने की चेष्टा की। पर यह भेद खुल गया। स्वयं ख्वाजा मुहम्मद तथा नाहर खाँ के अधीन कुछ सेना ने उस दुर्ग तक गुरु का पीछा किया। गुरु के मुट्ठी भर भक्त अनुयायियों ने अंत समय तक युद्ध किया। इस युद्ध में उनके ज्येष्ठ पुत्र अजीतसिंह तथा जोकरसिंह और उनकी माता सुंदरी का वध हुआ। * स्वयं गुरु ने बड़ी वीरता से युद्ध किया और अपने हाथों से नाहर खाँ को मार डाला और ख्वाजा मुहम्मद को घायल कर दिया। पर इस युद्ध में गुरु को अनेक कष्ट सहन करने पड़े, उन्हें भेष बदल कर कई स्थानों में भ्रमण करना पड़ा।

---

* कहते हैं कि चमकौर के किले में गुरु केवल पाँच आदमियों के साथ रहे थे। किले की दीवालें कच्ची थीं। अपना कोई वश चलता न देख कर उन्होंने एक उपाय सोचा। किले की दीवाल में एक छेद किया जिसमें से पाँचों अनुयायी एक एक करके विविध दिशाओं को निकल गए। उन्होंने दिन भर वन में व्यतीत किया, रात्रि को भेष बदल लिया, मुसलमान संतों के से कपड़े पहन लिए, दो पठानों ने यह प्रसिद्ध किया कि ये हमारे पीर हैं। कई इतिहास लेखकों ने लिखा है कि पीर की दशा में मुगलों के सेनापति को गुरु के संबंध में संदेह

इस प्रकार वे उस संकट के समय बच कर मालवा की ओर चले गए। इस युद्ध के कारण गुरु के * चारों लड़के मारे गए, पर इन सब आपत्तियों से भी वे अपने कर्त्तव्य से डिगे नहीं। जिस तरह महाराणा प्रतापसिंह ने घास की रोटी खाने पर भी सम्राट् अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की

हुआ और उसने कहा कि वास्तव में ये पीर हैं तो हमारे साथ भोजन करें। गुरु ने स्वीकार कर लिया और एक ही दस्तरखान पर मुसलमानों के साथ भोजन किया। कोई कहते हैं कि गुरु ने भोजन करने के पूर्व ग्रंथ साहब के कुछ शब्द उच्चारण किए थे। किसी किसी का कहना है कि गुरु ने भोजन नहीं किया। कई इतिहास लेखकों ने इस घटना का कुछ वर्णन नहीं किया है।

* इस युद्ध के समय गुरु गोविंदसिंह की माता गुजरी तथा उनके दो पुत्र भागे थे। गुरुजी के एक विश्वासघातक नौकर ने दोनों छोटे लड़कों को नवाब के हाथ में गिरफ्तार करा दिया। पहले तो नवाब ने इन लड़कों को छोड़ना चाहा था, फिर बहकाने में आकर उसने लड़कों से मुसलमान हो जाने को कहा। लड़कों ने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। इस पर नवाब ने लड़कों को जीते जी दीवाल में चुनवा दिया। लड़कों ने आह तक नहीं की, वे अपने धर्म पर डटे रहे। माता गुजरी की, इस पाशविक अत्याचार को सुन कर, अपने पौत्रों की मृत्यु के शोक में मृत्यु हो गई। जब गुरु गोविंदसिंह की स्त्री ने अपने पुत्रों की मृत्यु का सवाद सुना तो उसने ऐसे वीर पुत्रों के होने के लिये

थी, वैसे ही गुरु गोविंदसिंह ने भी अनेक कष्ट सह कर भी सम्राट् औरंगजेब के सामने अपना मस्तक नहीं नवाया। अपने चारों लड़कों के मारे जाने पर भी, उन्होंने जो व्रत ग्रहण किया था, उसको परित्याग नहीं किया। गुरु गोविंदसिंह की जीवनी से बड़ी भारी शिक्षा यह प्राप्त होती है कि कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति के सामने संकट तुच्छ हैं। जो मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिसने अपने कर्त्तव्य को पालन नहीं किया है, वही मृत्यु से हारा है। कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति विघ्न-बाधाओं से नहीं घबराते हैं। आँखों के तारे, दुलारे चारों पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर भी गुरु गोविंद-सिंह शोक से अधीर नहीं हुए। वे पहले के समान कर्त्तव्य कर्म मे जुटे रहे। पहले के समान ही दत्त चित्त हो कर वे अपना कर्त्तव्य पालन करने को तैयार हुए। गुरु गोविंदसिंह के अलौकिक साहस की प्रशंसा मित्र ही नहीं, शत्रु भी करते थे। कहते हैं कि बादशाह औरंगजेब गुरु गोविंदसिंह के इस अपूर्व एवं अलौकिक साहस पर मोहित हो गए थे। उन्होंने गुरु गोविंदसिंह को अपने यहाँ बुलाने की चेष्टा की, किंतु वे औरंग-जेब की कपट नीति को समझ गए थे, इसलिये बार बार उसके बुलाने पर भी नहीं गए। उन्होंने बड़ी घृणा के साथ लिख दिया था कि "मैं बादशाह का कभी किसी प्रकार विश्वास नहीं कर सकता। अब भी खालसा लोग बादशाह के पहले अप-राधों का बदला लेंगे। इसके अनंतर उन्होंने बाबा नानक के धर्म संस्कार, अर्जुन तथा तेगबहादुर की शोचनीय मृत्यु तथा पुत्रहीन होने का हाल लिखकर लिखा—"मुझे इस समय संसार के किसी भोग विलास की इच्छा नहीं है, किंतु धैर्य्यपूर्वक मृत्यु की बाट देख रहा हूँ। राजाओं के राजा सब से बड़े उस बाद-

शाह परमेश्वर के अतिरिक्त मुझे किसी का भय नहीं है।” ऐसा कोरा जवाब पाकर भी * औरंगजेब गुरु गोविंदसिंह से मिलने को तैयार हुआ और उसने आग्रह पूर्वक उनको दिल्ली आने के लिये लिख भेजा। गुरु गोविंदसिंह औरंगजेब से मिलने को तैयार भी हुए, किंतु दिल्ली के पास पहुँचते ही उनको ज्ञात हुआ कि मुगलसम्राट् औरंगजेब की मृत्यु हो गई है। कई इतिहासलेखकों ने लिखा है कि औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुर शाह ने उनके साथ प्रेमपूर्वक बर्त्ताव भी किया था। कोई कोई कहते हैं कि दक्षिण में गुरु गोविंदसिंह बादशाह के साथ गए भी थे और बादशाह ने उन्हें सेना में एक उच्च पद भी

* Trumpp (ट्रम्प) लिखता है कि गुरु गोविंदसिंह ने कभी दिल्ली जाना स्वीकार नहीं किया था। सैय्यद लतीफ ने एक घटना लिखी है जिससे ज्ञात होता है कि गुरु गोविंदसिंह बड़े दूरदर्शी थे। कहते हैं कि लड़कों के मारे जाने के बाद, वे सरहिंद से हो कर निकले थे, सरहिंद पहुँचते ही सिक्खों को बड़ा क्रोध आया। सिक्ख लोग सरहिंद को नष्ट करने के लिये तैयार हो गए, गुरु ने यह सोच कर सरहिंद के एक हाकिम के कारण नाहक बेचारे सरहिंद निवासियों को कष्ट होगा, अपने अनुयायियों को समझाया कि सरहिंद को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। सिक्ख लोग इस स्थान को सरहिंद न कह कर गुरुमार कहा करें। जो कोई सिक्ख इस स्थान से होकर निकलें वह नगर में से दो ईंटें निकाल कर गंगाजी में फेंक दिया करें। सुनते हैं कि आजकल भी सिक्ख दो ईंटें निकाल कर गंगाजी में फेंक दिया करते हैं।

दिया था । जो कुछ हो इसमें संदेह नहीं कि जबरदस्त बादशाह औरंगजेब की सल्तनत को ज़वाल पहुँचानेवाले शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह ही थे । गुरु गोविंदसिंह ने सिक्खों में ऐसी अग्नि प्रज्वलित कर दी थी जो उनके पीछे भी नहीं बुझी थी । गुरु गोविंदसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों ने अनेक कष्ट सहे परंतु वे अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटे ।

गुरु गोविंदसिंह का जीवन-प्रदीप सन् १७०८ मे बुझ गया । ४८ वर्ष के अपूर्ण वय में उनका देहांत गोदावरी के तट पर नादर स्थान में हो गया । गुरु की मृत्यु का कारण यह बतलाया जाता है कि गुरु शांति के साथ दक्षिण में अपना समय व्यतीत कर रहे थे कि एक दिन दो पठान लड़कों ने अपने पिता का बदला लेने के लिये गुरु के पेट में दो छूरियाँ घुसेड़ दीं ।

दोनों लड़के पकड़ लिये गए, पर गुरु ने दोनों पठान लड़कों को यह कह कर क्षमा कर दिया कि * उन्होंने केवल अपने बाप की मृत्यु का बदला लिया है । गुरु जी के घाव सिलवाए गए, वे अच्छे भी हो गए थे पर थोड़े दिन पीछे वे एक बाण की परीक्षा कर रहे थे कि उसी समय उनका देहांत हो गया । सच पूछिए तो गुरु गोविंदसिंह ने इस देश के निमित्त पूर्णाहुति दी । आज गुरु गोविंदसिंह को मानव लीला संवरण किए हुए बहुत दिन हो गए हैं, परंतु देश और धर्म की सेवा करने के कारण वे आज भी जीवित हैं । उनके अनुकरणीय जीवन से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त हो सकती हैं ।

---

* लड़कों के बाप को गुरु ने किसी समय मार डाला था, पर उन्होंने लड़कों का लालन पालन किया था ।

(३) शोणित तर्पण

"वतन पर हम फ़िदा होंगे हमें तो वतन प्यारा है।
यह महबूब है अपना हम इसके यह हमारा है" ॥

सन् १७०८ में गुरु गोविंदसिंह की गोदावरी के तट पर* बंदा वैरागी से भेंट हुई थी। सिक्ख इतिहास की आलोचना करते समय बंदा वैरागी की उपेक्षा करना बड़ा अन्याय होगा, क्योंकि गुरु गोविंदसिंह ने जिस कार्य का बीड़ा उठाया था, उसको बंदा वैरागी ने पूरा किया। गुरु के पितृ और पुत्र वध का बदला बंदा ने लिया था। जब गुरु दक्षिण की यात्रा कर रहे थे तब उन्हें नादेड़ में ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ था, वहीं पर उन्होंने बंदा की प्रशंसा सुनी थी और वे उससे

---

* बंदा का पहला नाम लछमन देव था। उसका जन्म काश्मीर राज्य के अंतर्गत राजौरी ग्राम में हुआ था। उसके पिता का नाम रामदेव था और वह डोग्रा जाति का राजपूत था। लछमन देव को लड़कपन में शिकार खेलने का बड़ा शौक था। एक दिन उसने एक हिरनी मारी, परंतु जब उसे काटा तो उसके पेट में दो बच्चे जीते हुए निकले और उसके देखते देखते थोड़ी देर में मर गए। इस पर उसे केवल शिकार से नहीं बल्कि संसार से वैराग्य हो गया। वैरागी होने पर उसने अपना नाम माधोदास रक्खा। अनेक स्थानों में तीर्थयात्रा कर के वह गोदावरी के निकट नादेड़ नामक गाँव में रहने लगा था।

मिलने गए थे। गुरु उसको देखते ही पहचान गए और सोचने लगे कि इसी के द्वारा मेरे महान् उद्देश्य की पूर्ति होगी। उन्होंने अपने ओजस्विनी और प्रभावशाली उपदेशों से बंदा के हृदय पर पितृ और पुत्रों के बध का बदला लेने का विचार अंकित कर दिया। गुरु के उपदेशों का ऐसा प्रभाव हुआ कि बंदा गुरु का शिष्य हो गया। वह अपने को गुरु का बंदा अर्थात् गुलाम कहने लगा। गुरु ने उसे एक खड्ग तथा अपनी तुड़ी में से पाँच बाण प्रदान किए और उसे निम्नलिखित पाँच आज्ञाएँ दीं—

*(१) कभी किसी स्त्री के पास न जाना वरन् जीवन भर ब्रह्मचर्य रखना।

(२) सदा सत्य विचार करना, सत्य बोलना और सत्य पर ही चलना।

(३) सदा अपने को खालसा का सेवक समझना और उसके इच्छानुसार कार्य करना।

(४) कभी अपना अलग मत स्थापित करने की चेष्टा न करना।

(५) कभी अपनी विजयों पर अभिमान न करना।

बंदा ने बड़े आदर और भक्तिपूर्वक उस खड्ग और तीरों

---

* गुरु गोविंदसिंह ने अविवाहित जीवन पर विशेष बल दिया है। वास्तव में देश की सेवा करनेवालों को अविवाहित जीवन व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि घर गृहस्थी का बोझा होने तथा अपने समान गुण कर्मवाली स्त्री के न मिलने से बड़ी दिक्कतें आती हैं और बड़े बड़े कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

को ग्रहण किया और गुरु की आज्ञाओं के पालन करने की हार्दिक प्रतिज्ञा की। गुरु के आदेशानुसार वह पंजाब में गया। सिक्ख लोग बंदा के झंडे के नीचे इकट्ठे होने लगे। सिक्खों को एकत्र करके बंदा ने शोणित तर्पण आरंभ कर दिया। उसकी बड़ी भारी लालसा थी कि उस सरहिंद का जहाँ नन्हे नन्हे बालकों का खून हुआ है नाश करना चाहिए। सबसे पहले उसने एक खजाना लूटा जो दिल्ली को जा रहा था। इस खजाने में उसको खूब धन हाथ लगा। उसने समस्त धन अपने सैनिकों में बाँट दिया। कैथल के नगर को भी उसने खूब लूटा, उसके बाद उसने जल्लाद जलालुद्दीन का जिसने गुरु तेगबहादुर का बध किया था, गाँव लूटा और दस हजार मुसलमानों का बध कर डाला। इसके अतिरिक्त उसने और भी कई मुसलमानों के गाँव के गाँव लूटे, मुखलिसपुर का दुर्ग विजय किया और उसका नाम लोहगढ़ रखा। इस प्रकार और भी कई छोटी छोटी विजय प्राप्त करने के पश्चात् बंदा ने सर-हिंद पर चढ़ाई करने की ठानी। सरहिंद की चढ़ाई का समाचार सुनते ही हजारों सिक्ख बंदा के झंडे के तले एकत्र हो गए थे। क्योंकि प्रत्येक सिक्ख की सरहिंद में गुरु गोविंदसिंह के पुत्रों के बध किए जाने के बदला लेने की प्रबल लालसा हो रही थी। अतएव चारों ओर से सिक्खगण एकत्र हो गए। बंदा ने बड़ी धूमधाम से चढ़ाई की।

यह लड़ाई ३० मई सन् १७१० को हुई थी। यहाँ का शासक वजीर खाँ मालेर कोटला के शेर मुहम्मद ख्वाजा अली के साथ स्वयं सेना लेकर युद्धक्षेत्र में आया। मुसल-मानों के पास बहुत सी तोपें, हाथी तथा युद्ध का और भी बहुत सा सामान था। परंतु दूसरी ओर बंदा के पास लड़ाई

का कुछ विशेष सामान न था। उसके पास न तो तोपें थीं, न हाथी और न अच्छे घोड़े थे। लड़ाई आरंभ होते ही मुगलों ने गोले बरसाने शुरू किए, इसका परिणाम यह हुआ कि वे डाकू लुटेरे जो केवल लूट मार की खातिर इकट्ठे हुए थे, भग गए; पर श्रद्धावान सिक्ख युद्ध में डटे रहे। स्वय वंदा बहादुर सच्चे राजपूतों के समान युद्धक्षेत्र में डटा रहा। वह सेना के अग्र भाग में था। अंत में विजय लक्ष्मी वंदा बहादुर से प्रसन्न हुई। वजीर खाँ और उसका दीवान दोनों युद्धक्षेत्र में मारे गए। वंदा की विजय पताका सरहिंद पर फहराने लगी। * समस्त मुसलमान पुरुष, स्त्रियाँ, बालक और बूढ़े अत्यंत क्रूरता के साथ मारे गए। सरहिंद में तीन दिन तक खूब लूट होती रही। चौथे

---

* लतीफ़ ने लिखा है कि वज़ीर खाँ एक पेड़ पर लटका दिया गया। उन्होंने उस स्थान के प्रत्येक मुसलमान को काटा, बरछे मारे, गले घोटे, फाँसी दी, गोली मारी, टुकड़े टुकड़े किए तथा जीता जला दिया। केवल इतना ही नहीं किया वरन् कबरों में से मुर्दों को निकाल कर अखाद्य मांस की तरह फेंक दिया। डाक्टर गोकुलचंद लिखते हैं कि यह वृत्तांत बहुत रंगीन लिखा मालूम होता है, क्योंकि अहमदशाह का मक़बरा जो वहाँ की समस्त इमारतों में अधिक सुंदर और विशाल है आज तक वैसा ही खड़ा है जैसा पहले था। मेरे विचार में लतीफ ने इस वृत्तांत को बहुत बढ़ा चढ़ा कर लिखा है। पर ख़ाफी खाँ इस वृत्तांत को ठीक बताता है और यह भी लिखता है कि गर्भवती स्त्रियों तक के पेट काटे गए और उनके बच्चों के टुकड़े टुकड़े किए गए।

दिन लूट बंद होने की आज्ञा हुई। बंदा ने सरहिंद के २८ परगनों के मुसलमान हाकिमों के स्थान पर हिंदुओं को नियुक्त किया और इस प्रकार सतलज और यमुना के बीच का बहुत सा देश सिक्खों के हाथ में चला गया। इस भाँति सरहिंद के मुसलमानों के खून से तर्पण करके गुरु गोविंदसिंह के नन्हे नन्हे बच्चों की मृत्यु का बदला लिया गया।

सरहिंद पर विजय प्राप्त कर के बंदा चुप नहीं रहा। उसने धीरे धीरे कितने ही देशों पर विजय प्राप्त की। हिंदू बंदा को अपना रक्षक समझते थे। जहाँ कहीं उसने मुसलमानों के अत्याचार सुने, वहीं वह गया। गो-वध के वह बहुत विरुद्ध था, जहाँ कहीं उसने गोवध की खबर सुनी, वहीं वह पहुँचा। जो हिंदू किसी तरह के संकट में पड़ता था, वह बंदा को शरण लेता था। बंदा जहाँ तक हो सकता अपनी शक्ति भर हिंदुओं के दुःखों के दूर करने की चेष्टा करता था। बंदा ने करनाल तक विजय कर लिया और शनैः शनैः पानीपत तक समस्त देश को अपने अधीन कर लिया। मुसलमान शासकों से लेकर स्त्री बच्चे तक बंदा के नाम से थरथर काँपते थे। सिक्ख लोग बंदा के अधीन दिल्ली के प्रांत तक पहुँच गए थे। सरहिंद से पानीपत तक सिक्खों का ही अधिकार था। किसी रईस को सिक्खों के सामने चूँ करने की हिम्मत नहीं होती थी। दिल्ली के सम्राट् ने सिक्खों का किस तरह से दमन किया, यह आगे के परिच्छेद से ज्ञात होगा।

(४) आत्मोत्सर्ग के ज्वलंत दृष्टांत

"जननी अरु जन्मभूमि को बढ़ प्राणहु ते देख।
इनकी रक्षा के लिये प्राण न कछु अवरेख" ॥

"O ! To struggle against odds, to meet
enemies undaunted
To be entirely alone with them, to find
how much one can stand
To look strife, torture, prison, popular ruin
face to face
To mount the scaffold, to advance to the
muzzles of guns with perfect non-chalance
To be indeed a God"

—Walt Whitman.

जिस समय बंदा बहादुर के वीर सैनिक दिल्ली के पास पहुँच कर लूट मार मचा रहे थे, उस समय मुग़ल सम्राट् दक्षिण के युद्धों में उलझा हुआ था। वहीं उसे बंदा के युद्धों का समाचार मिला। दक्षिण से लौटते समय सम्राट् ने राजधानी में दम लेने तक को प्रवेश नहीं दिया। उसने सिक्खों को काबू में लाने के लिये सरहिंद की राह ली। शाही सेना से १० नवंबर सन् १७१० को सिक्ख थानेश्वर और तारावड़ी के बीच शाही सड़क के ऊपर अमीनाबाद नामक ग्राम में परास्त हुए। इस संग्राम में सिक्ख हार गए और उनके अगणित आदमी मारे गए। पर बंदा हाथ न आया, वह लोहगढ़ के किले में जा छिपा, शाही सेना वहाँ भी जा पहुँची। बंदा भेष बदलना खूब जानता था, वह किले में से भी किसी तरह

से निकल भागा। शाही सेना को निराश होना पड़ा। बंदा ने फिर कई स्थानों में सिर उठाया और शाही सेना को यहाँ तक तंग किया कि स्वयं बादशाह को लाहौर आना पड़ा। कई स्थानों में शाही सेना ने बंदा का पीछा किया। बंदा बहादुर भी समय समय पर शाही सेना से खूब लड़ता था और शाही सेना के हाथ न आता था, पहाड़ों में भाग जाता था। सम्राट् छ अथवा सात मास लाहौर में रह कर सन् १७११ ई० में मर गए।

सम्राट् के मरते ही दिल्ली के राजसिंहासन के लिये राजकुमारों मे झगड़ा खड़ा हुआ। अंत में फर्रुखसियर जहाँदार शाह को राजसिंहासन पर से उतार कर सिंहासन पर बैठा। औरंगजेब अन्य धर्मावलंबियों का केवल विद्वेषी था, परंतु फ़र्रुखसियर ने सिक्खों के रक्त से ही खास तौर पर अपने चित्त की शांति करने की ठान ली थी। सिंहासन पर बैठते ही फर्रुखसियर ने सिक्खों को दमन करने की ठान ली। सन् १७१२ तथा १७१३ में हज़ारों सिक्ख पकड़े गए और मार दिए गए। पर बंदा भी चुप नहीं था, उसने १७१६ के आरंभ में ही फिर अकस्मात् कलानौर और बटाला पर आक्रमण किया, क्योंकि ये नगर इससे पहली बार उसकी लूट मार से बच गए थे। बंदा ने इन दोनों नगरों को खूब लूटा और अगणित मुसलमानों को मार डाला। सम्राट् फर्रुखसियर इन सब बातों से अत्यंत क्रुद्ध हुआ, उसने लाहौर के नाज़िम को बंदा के बल को नष्ट कर देने की आज्ञा दी। शाही सेना ने बंदा को कलानौर के निकट परास्त कर दिया। वह एक स्थान से दूसरे स्थान को भागता रहा, पर वह प्रत्येक स्थान पर बड़ी वीरता से लड़ता रहा और अपने विजेताओं के बहुत से

सैनिकों का वध भी करता रहा। अंत में चारों ओर अपना वश न चलता देख कर उसे गुरुदासपुर के किले में शरण लेनी पड़ी। वह वहाँ चारों ओर से घेर लिया गया, जिससे कोई वस्तु बाहर से उसके पास नहीं पहुँच सकती थी। इस लिये बंदा के पास जब भोजन की समस्त सामग्री चुक गई तब उसके सैनिकों को घोड़े, गधे और बैल तक का निषिद्ध मांस खाना पड़ा, परंतु जब उसने कोई अपना वश चलता न देखा तब उसे शत्रु की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। अधीनता स्वीकार करने पर अनेक सिक्ख मार डाले गए। बंदा और उसके साथी बड़ी दुर्गति से कैद किए गए। जो सिक्ख मारे गए उनके सिर भालों पर लटकाए गए। शाही सेना बंदा को एक बड़ा जादूगर समझती थी और डरती थी कि वह कहीं उड़ न जाय। मुग़ल सेना ने उसको एक लोहे के पिंजरे में बंद कर दिया। एक जंजीर द्वारा उसे एक मुग़ल अफसर के साथ बाँध दिया। मुग़ल अफसर को यह आज्ञा थी कि यदि बंदा उड़ने की चेष्टा करे तो उसके पेट में कटार घुसेड़ देना। बंदा ७४० अनुयायियों समेत दिल्ली लाया गया, इन सबके हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं और उनके आगे दो हजार सिक्खों के सिर भालों पर लटक रहे थे।

* बंदा बहादुर और उसके साथियों के प्रति अत्यंत निष्ठुर

---

* बादशाह फर्रुखसियर ने सिक्खों को बड़ी बड़ी यंत्रणाएँ पहुँचाई थीं। सुनते हैं कि एक बार अगणित सिक्खों को गिरफ्तार किया, जिनमें कितने ही बच्चे थे। उनको अनेक प्रकार से इस्लाम मत ग्रहण करने के लिये फुसलाया गया। पर वे राजी नहीं हुए।

से निकल भागा। शाही सेना को निराश होना पड़ा। बंदा ने फिर कई स्थानों में सिर उठाया और शाही सेना को यहाँ तक तंग किया कि स्वयं बादशाह को लाहौर आना पड़ा। कई स्थानों में शाही सेना ने बंदा का पीछा किया। बंदा बहादुर भी समय समय पर शाही सेना से खूब लड़ता था और शाही सेना के हाथ न आता था, पहाड़ों मे भाग जाता था। सम्राट् छ अथवा सात मास लाहौर में रह कर सन् १७११ ई० में मर गए।

सम्राट् के मरते ही दिल्ली के राजसिंहासन के लिये राजकुमारों में झगड़ा खड़ा हुआ। अंत में फ़र्रुख़सियर जहाँदार शाह को राजसिंहासन पर से उतार कर सिंहासन पर बैठा। औरंगजेब अन्य धर्मावलंबियों का केवल विद्वेषी था, परंतु फ़र्रुख़सियर ने सिक्खों के रक्त से ही खास तौर पर अपने चित्त की शांति करने की ठान ली थी। सिंहासन पर बैठते ही फर्रुख़सियर ने सिक्खों को दमन करने की ठान ली। सन् १७१२ तथा १७१३ में हजारों सिक्ख पकड़े गए और मार दिए गए। पर बंदा भी चुप नहीं था, उसने १७१६ के आरंभ में ही फिर अकस्मात् कलानौर और बटाला पर आक्रमण किया, क्योंकि ये नगर इससे पहली बार उसकी लूट मार से बच गए थे। बंदा ने इन दोनों नगरों को खूब लूटा और अगणित मुसलमानों को मार डाला। सम्राट् फ़र्रुख़सियर इन सब बातों से अत्यंत क्रुद्ध हुआ, उसने लाहौर के नाजिम को बंदा के बल को नष्ट कर देने की आज्ञा दी। शाही सेना ने बंदा को कलानौर के निकट परास्त कर दिया। वह एक स्थान से दूसरे स्थान को भागता रहा, पर वह प्रत्येक स्थान पर बड़ी वीरता से लड़ता रहा और अपने विजेताओं के बहुत से

सैनिकों का वध भी करता रहा। अंत में चारों ओर अपना वश न चलता देख कर उसे गुरुदासपुर के किले में शरण लेनी पड़ी। वह वहाँ चारों ओर से घेर लिया गया, जिससे कोई वस्तु बाहर से उसके पास नहीं पहुँच सकती थी। इस लिये बंदा के पास जब भोजन की समस्त सामग्री चुक गई तब उसके सैनिकों को घोड़े, गधे और बैल तक का निषिद्ध मांस खाना पड़ा, परंतु जब उसने कोई अपना वश चलता न देखा तब उसे शत्रु की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। अधीनता स्वीकार करने पर अनेक सिक्ख मार डाले गए। बंदा और उसके साथी बड़ी दुर्गति से कैद किए गए। जो सिक्ख मारे गए उनके सिर भालों पर लटकाए गए। शाही सेना बंदा को एक बड़ा जादूगर समझती थी और डरती थी कि वह कहीं उड़ न जाय। मुगल सेना ने उसको एक लोहे के पिंजरे में बंद कर दिया। एक जंजीर द्वारा उसे एक मुग़ल अफसर के साथ बाँध दिया। मुग़ल अफसर को यह आज्ञा थी कि यदि बंदा उड़ने की चेष्टा करे तो उसके पेट में कटार घुसेड़ देना। बंदा ७४० अनुयायियों समेत दिल्ली लाया गया, इन सबके हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं और उनके आगे दो हजार सिक्खों के सिर भालों पर लटक रहे थे।

* बंदा बहादुर और उसके साथियों के प्रति अत्यंत निष्ठुर

---

* बादशाह फर्रुखसियर ने सिक्खों को बड़ी बड़ी यंत्रणाएँ पहुँचाई थीं। सुनते हैं कि एक बार अगणित सिक्खों को गिरफ्तार किया, जिनमें कितने ही बच्चे थे। 'उनको अनेक प्रकार से इस्लाम मत ग्रहण करने के लिये फुसलाया गया। पर वे राजी नहीं हुए।

व्यवहार किया गया। उन्हें बलपूर्वक भेड़ों की खाल पहना कर

तब बादशाह ने हुक्म दिया कि नित्य एक सिक्ख मारा जाय। बादशाह को विश्वास था कि नित्य एक सिक्ख को मरते देख कर बाकी के लोग इस्लाम मत को ग्रहण कर लेंगे। लेकिन सिक्ख इससे भी नहीं घबराए। बारी बारी से प्रसन्नतापूर्वक मरने लगे। एक दिन एक लड़के की बारी आई। इतने में उसकी माँ रोती हुई पहुँची और बोली—"मेरा लड़का सिक्ख नहीं है, वह छोड़ दिया जाय, लड़के की माँ के इस आर्त्तनाद को सुन कर स्वय बादशाह वध-स्थल पर पहुँचा और उसने उसके लड़के को छोड़ने का हुक्म दिया। लड़के ने यह सुन कर कहा मुझे क्यों छोड़ते हो? मैंने ऐसा क्या अपराध किया, जिससे मुझे अपने कर्त्तव्य से हटाते हो?" बादशाह ने कहा—"तू मूर्ख और अज्ञान है। तेरी माँ कहती है कि तू सिक्ख नहीं है।" लड़के ने कहा—"मेरी माँ स्नेहवश अंधी हो गई है। मैं गुरु गोविंदसिंह का सच्चा बेटा हूँ। मैं कदापि धर्म से विमुख नहीं हो सकता।" समझाने बुझाने से भी लड़के ने नहीं माना। लड़का मारा गया। बादशाह ने लड़के की वीरता पर कहा—"क्या करूँ इस लड़के की वीरता और दिलेरी देख कर इसको छोड़ने की इच्छा होती थी, पर मैंने यह शपथ खा ली है कि अपने देश में किसी सिक्ख को नहीं रहने दूँगा। इसी लिये यह अबोध और अज्ञान लड़का मारा गया"। (Anecdotes from Sikh History No. 4.)

ऊँटों और गधों पर सारे शहर में घुमाया गया। वंदा का काला मुँह किया गया और एक ऊनी टोपी पहना उसे हाथी पर बैठाया गया और जल्लाद को तलवार दे कर उसके सिर पर खड़ा किया गया। इस भाँति वंदा और उसके साथियों को नगर के उन समस्त बाजारों तथा ऐसे स्थानों में घुमाया गया जहाँ पर बहुत लोग चलते फिरते थे। प्रति दिन बंदा के अनुयायियों मे से सौ मनुष्यों के सिर काटे जाते थे, यहाँ तक कि वंदा के अतिरिक्त शेष सब मार डाले गए। बंदा के अनुयायियों ने बड़ी वीरता से मृत्यु का सामना किया। उनमें से प्रत्येक इसका आग्रह करता था कि धर्म के नाम पर सब से पहले बलि होने का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त हो। आठवें दिन स्वयं वंदा न्यायाधीशों के सामने लाया गया। उसको पहले एक जंगली पशु के समान पिंजड़े में से घसीट कर निकाला गया और जबरदस्ती राजकीय वस्त्र और लाल पगड़ी उसे पहनाई गई। उसके जो अनुयायी, उससे पहले मारे जा चुके थे, उनके सिर भालों पर लटका कर उसके चारों ओर खड़े किए गए। राजकर्मचारियों ने उससे ताने के साथ पूछा कि तू ने समझदार और विद्वान् होकर भी ऐसा उत्पात क्यों किया? उसने डपट कर, वीरतापूर्वक उत्तर दिया—"मैं ईश्वर के हाथों में दुष्टों को दंड देने के लिये काल रूप था। परंतु अब मुझ को मेरे अपराधों का दंड देने के लिये दूसरों के हाथों में शक्ति दे दी गई है"। जल्लाद नंगी तलवार लिए उसके सामने खड़ा था, वंदा के * एक बालक को देख कर उससे कहा गया कि

---

* लतीफ, कनिंगहम, आदि कई इतिहासलेखकों ने लिखा है कि वंदा ने स्वयं अपने हाथों से पुत्र वध किया था। परंतु एल-

तू इसे मार डाल। जब बंदा ने अपने पुत्र का वध करना स्वीकार नहीं किया तो जल्लाद ने बंदा के सामने ही उस बेचारे निर्दोष बालक का वध कर डाला और उसका कलेजा उसके बाप के ऊपर फेंक दिया। कुछ इतिहास लेखक लिखते हैं कि बंदा के पास एक बिल्ली थी, उसको भी मुसलमानों ने मार डाला। इसके पश्चात् बंदा को बड़ी निर्दयता और क्रूरता से मारा गया। उसके शरीर का मांस लाल तपाए हुए लोहे से काटा गया। इस असह्नीय पीड़ा से उसने अपने प्राण त्याग कर दिए *।

फिनूस्टन ने लिखा है कि बंदा ने अपने पुत्र का वध नहीं किया। स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने भी अपने 'इतिहास तिमिर नाशक" के दूसरे खंड में एलफिनूस्टन के मत का ही समर्थन किया है। विश्वास नहीं होता कि बंदा का ऐसा पाषाण हृदय होगा कि वह अपने पुत्र का आप वध करता। पर यह भी कहा जा सकता है कि जब उसने देखा होगा कि उसके पुत्र की प्राण रक्षा नहीं हो सकती है तो उसने विधर्मियों के हाथ से मारे जाने की अपेक्षा अपने हाथ से ही उसे मार डाला हो। यह भी हो सकता है कि मुसलमान लेखकों ने बंदा को बदनाम करने के लिये यह लिख दिया हो कि उसने अपने हाथों से अपने पुत्र का वध किया था।

* डाक्टर गोकुलचंद नारंग ने "बंदा बहादुर" नामक पुस्तक के आधार पर लिखा है—"इतनी यंत्रणाएँ देने के अनंतर बंदा को एक हाथी के पीछे बाँध कर घसीटा गया और जमुना के किनारे

इसमें संदेह नहीं कि बंदा के नेतृत्व में सिक्खों की विशेष उन्नति हुई थी। गुरु गोविंदसिंह के सिद्धांतों और कल्पनाओं को उसने कार्य में परिणत कर दिखलाया था। उसने लाहौर से पानीपत तक सिक्खों की ध्वजा पताका फहरा दी थी। उसकी बड़ी बड़ी विजयों द्वारा सिक्ख मत की प्रतिष्ठा और और शक्ति

ले जाकर, भूत समझ कर उसको छोड़ दिया गया ताकि भेड़िये और गीदड़ उसको फाड़ खावें। परंतु एक फकीर ने उसमें जीवन के कुछ चिह्न देख कर, उसको उठा ले गया और जब तक उसके सब घाव अच्छे न हो गए तब तक उसकी दवा दारू करता रहा। इसके पीछे बंदा भेष बदल कर पंजाब भाग गया। किंतु सिक्खों की परिस्थिति पलट गई थी। सिक्ख समाज के दो दल हो गए थे, जो एक दूसरे के विरुद्ध थे। एक दल बंदा को गुरु मानता था और दूसरा "तत्व खालसा" कहलाता था, जो गुरु गोविंदसिंह को अंतिम गुरु मानता था। लाहौर के सूबेदार अब्दुल समद की दमन नीति ने सिक्खों के हृदय में भय उत्पन्न कर दिया था। वे पहाड़ों, भटिंडे तथा बीकानेर के जंगलों और रेगिस्तानों में भाग गए थे। उनका पुनः संघठन करना असंभव प्रतीत होता था। बंदा जंबू के पहाड़ों में भम्भड़ नामक स्थान पर एक साधू के रूप में रहने लगा। जिस समय उसको इतनी पीड़ा दी गई थी और उसके पुत्र के उसकी आँखों के सामने टुकड़े किए गए थे, उस समय बंदा की पहली स्त्री उसके पास थी। कहा जाता है, उसको बलात् मुसलमान बना कर जबरदस्ती हज करने के लिये मक्के भेज दिया गया। बंदा

इतनी बढ़ गई थी, जो पहले कभी देखने में नहीं आई थी परतु सिक्ख धर्म के सिद्धांतों से वदा का मतभेद था, उसने सिक्खों की कई संस्थाओं को पलटना चाहा था, जिससे उससे बहुत

ने फिर विवाह कर लिया और उससे उसके एक पुत्र जिसका नाम रणजीतसिंह था, सन् १७२८ में उत्पन्न हुआ। वंदा १४ ज्येष्ठ सवत् १७६८ को अर्थात् मई सन् १७४१ ई० में मर गया। उसकी समाधि भम्भड से २ वा ३ मील की दूरी पर है। इस स्थान पर प्रति वर्ष एक मेला होता है, जिसमें समस्त पजाब से सहस्रों सिक्ख जो आज तक वंदा की सतान को अपना गुरु मानते हैं, एकत्र होते हैं। उस गद्दी के वर्त्तमान (सितंबर १९०७) अधिकारी तेजसिंह हैं। इसके आगे वंदा का वश वृक्ष दे कर लिखा है कि गद्दी के वर्त्तमान अधिकारी अथवा उसके किसी भाई के भी संतान नहीं है। मैलकोम ने अपना इतिहास एक शताब्दी से अधिक हुए लिखा था। वह ऊपर के वृत्तात का उल्लेख करता है और भम्भड का भी नाम देता है जहाँ दिल्ली से भाग कर वंदा रहने लगा था। यह वृत्तांत 'पथप्रकाश' में भी दिया हुआ था। तथापि मुझे कहना पड़ता है कि यह वर्णन उस समय तक सदेहजनक प्रतीत होता है, जिस समय तक हम यह न मान लेवें कि वंदा गुरुदासपुर से दूसरी बार भाग गया था और कभी दिल्ली ले जाया ही नहीं गया। (The Transformation of Sikhism Pages 116–117)

से श्रद्धालु सिक्ख विपरीत हो गये थे ।* बंदा के असफल मनोरथ होने का यह भी एक कारण था।

फर्रुखसियर के समय से सिक्खों को बड़े बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा था। यदि इस समय के सिक्ख इतिहास की आलोचना की जाय तो प्रतीत होगा कि उस समय के सिक्ख इतिहास के पृष्ठ दुःख, अन्याय और अत्याचारों से रँगे हुए हैं। गुरु तेगबहादुर के यह वाक्य कि "सिर दिया सार न दिया"—सिक्खों के हृदयपटल पर ऐसे अंकित हो गए थे

---

* डाक्टर गोकुलचंद नारंग "पंथप्रकाश" के आधार पर लिखते हैं—"फर्रुखसियर अथवा उसके लाहौर के हाकिम द्वारा सिक्ख अधिक बलहीन हो गए थे। पाँच सौ सिक्खों को जो बंदा से असंतुष्ट हो गए थे, १) रुपए रोज पर सरकारी नौकरी में ले लिया गया था और बाकी के सिक्खों को अमृतसर के समीप "झब्बल" नामक स्थान देकर शांत कर दिया गया। इस स्थान से अमृतसर के दरबार साहब की आय में पाँच हजार रुपये की वार्षिक आय बढ़ गई थी। इस संधि के नियम ये थे—(१) खालसा देश में लूट मार नहीं करेंगे, (२) खालसा बंदा को सहायता नहीं देंगे, (३) यदि कोई विदेशी आकर आक्रमण करेगा तो खालसा को सम्राट् की ओर से लड़ना पड़ेगा, (४) खालसा की जागीर अथवा उनके वेतन में कोई कमी नहीं की जायगी, (५) किसी हिंदू को उसकी सम्मति के विरुद्ध मुसलमान नहीं किया जायगा वा अपवित्र किया जायगा। (The Transformation of Sikhism page 121)।

कि उनकी स्त्रियों तक ने भी अनेक कष्ट उठाए थे, अनेक यंत्रणाएँ सहन की थीं, परंतु वे अपने धर्म से नहीं डिगीं। उस समय सिक्ख लोग धर्म के लिये बलि पर बलि प्रदान करने लगे। बादशाह फर्रुखसियर ने सिक्खों का दमन करने के लिये बड़े बड़े उग्र और कठोर उपायों का अवलंबन किया था। बंदा बहादुर को परास्त करने के पश्चात् उसने ये आज्ञाएँ प्रचलित की थीं।

(१) पंजाब मे कोई हिंदू लंबे केश और दाढ़ी नहीं रख सकता था। जो कोई सिर मुड़वाने से इन्कार करता, वह तुरत मारा जाता।

(२) सिक्खों के नाश करने में सहायता देनेवालों को कई तरह के इनाम नियत किए गए। जो कोई ऐसी सूचना देता था, जिसके द्वारा कोई सिक्ख पकड़ा जा सके उसको ५) रुपया इनाम मिलता था, और जो कोई किसी सिक्ख का सिर काट कर ला दे उसे २५) इनाम दिया जाता था। इससे अधिक सहायता देने के लिये योग्य पुरुषों को जागीरें दी जाती थीं।

(३) जो मनुष्य किसी सिक्ख को किसी प्रकार की सहायता देता था वह अपराधी ठहराया जाता था।

इस प्रकार फर्रुखसियर की दमननीति ने सिक्खों के बल का ह्रास कर दिया था। कितनी ऐसी हत्याएँ हुईं, जिनसे भीतर ही भीतर अशांति की ज्वाला सुलगने मे सहायता मिली। सिक्खों के बूढ़े सरदार * मणिसिंह की पाशविक हत्या हुई।

---

* मणिसिंह—एक बूढा सिक्ख था जो गुरु गोविंदसिंह के चरणों में बैठ चुका था। गुरुजी की विधवा धर्मपत्नी ने सदा गुरु

दूसरो ऐसी नृशंस हत्या * तारूसिंह की हुई। और भी बहुत

के तथा 'तत्त्व खालसा' अर्थात् गुरु गोविंदसिंह के पहले अनुयायियों में जो कुछ विवाद हो गए थे, उन्हें शांत करने के लिये इसे भेजा था। वह अमृतसर में शांतभाव से रहता था। उसने अमृतसर के हाकिम से दिवाली का मेला करने की आज्ञा माँगी। उसने लाहौर के शासक से पूछा। वहाँ से पाँच हजार रुपया जमा करने का हुक्म हुआ। मणिसिंह ने स्वीकार कर लिया। दूर दूर से सिक्ख लोग आने की तैयारी करने लगे। लाहौर के शासक ने अमृतसर में कुछ थोड़ी सी फौज भेज दी थी। शासक की इस चेष्टा से सिक्ख लोग डर गए और अपने अपने घरों को लौट गए। मणिसिंह इस विचार में था कि मंदिर में जो दक्षिणा आवेगी, उससे पाँच हजार रुपया दे दिया जायगा। सो दक्षिणा नहीं आई। वह रुपया चुकाने में असमर्थ रहा। इस पर वह बंदी करके लाहौर पहुँचाया गया, उसे यह आज्ञा दी गई कि या तो वह रुपया चुकावे अथवा इस्लाम मत कबूल करे। उसने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। मणिसिंह के प्रशंसकों ने ५००० रुपया इकट्ठा किया, पर समय निकल गया था। उसके शरीर के प्रत्येक जोड़ पर से काट काट कर धीरे धीरे टुकड़े कर डाले गये। (The Transformation of Sikhism—page 47-48)

* तारूसिंह जाति का जाट था और माँझा देश के पूला नामक गाँव का रहनेवाला था। पचीस वर्ष की अवस्था में वह मारा गया। वह खेती करता था, उसके माता और एक विधवा बहिन थी। उसकी माता और बहिन दोनों पड़ोसियों का अनाज पीसा करती थीं। इस तरह से तीनों

सी हत्या हुई जिनमें से * बालक हकीकतराय की हत्या से पंजाब प्रांत के हिंदुओं में खलबली मच गई, क्योंकि अब तक सिक्खों की जो हत्याएँ हुई थीं, उनमें थोड़ा बहुत राजद्रोह का संदेह होने से खुल्लमखुल्ला सहानुभूति नहीं थी। परंतु

अपनी आय में से कुछ बचा कर लाहौर के नाज़िम के अत्याचारों के कारण जो लोग जंगलों में भाग गए थे, उनकी सहायता किया करते थे। बस यह स्पष्ट राजद्रोह था। वह गिरफ्तार करके लाहौर पहुँचाया गया। वहाँ उसे बड़ी बड़ी यंत्रणाएँ दी गईं। उसे चक्र के ऊपर चढ़ाया गया। उससे मुसल्मान होने को कहा गया पर उसने स्वीकार नहीं किया। उसका वध किया गया। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से सिक्ख लाहौर में दिल्ली दरवाजे के पास मारे गए। उस स्थान को आज भी "शहीदगंज" कहते हैं। (The Transformation of Sikhism—Page 48-49)

मणिसिंह की हत्या सन् १७३८ ई० में और तारूसिंह की सन् १७५० में हुई थी।

* हकीकतराय का जन्म सन् १७१९ ई० में हुआ था। उसके बाप का नाम भागमल था। भागमल पुरी जाति का खत्री था और स्यालकोट के हाकिम के दफ्तर में मुंशी का कार्य्य करता था। हकीकतराय का विवाह छोटी उम्र में सिक्ख खत्री की कन्या से हुआ था। सात वर्ष की उम्र में वह एक मकतब में पढ़ने गया। सन् १७३४ में हकीकत की आयु १५ वर्ष की भी नहीं थी। एक दिन मुल्ला की अनुपस्थिति में मुसलमान लड़कों ने हिंदुओं की देवी को गालियाँ दीं। हकीकतराय को यह बात

निर्दोष बालक हकीकतराय की हत्या ने पंजाब प्रांत के समस्त हिंदुओं को भड़का दिया। इस प्रकार पंजाब में धर्म संबंधी द्वेषाग्नि उस समय प्रज्वलित हो गई थी।

* सन् १७४८ में मीर मन्नू लाहौर का सूबेदार हुआ। मीर मन्नू का शासन घाव पर नमक छिड़कने के समान हुआ। मीर

बहुत बुरी लगी, उसने मुहम्मद की लड़की फातिमा को गाली दी। मुल्ला के आने पर मुसलमान लड़कों ने हकीकत की शिकायत की। हकीकतराय ने सच सच सब बात कह दी। काजी ने यह आज्ञा दी कि हकीकतराय मुसलमान हो जाय। इस पर स्यालकोट के हाकिम अमीर बेग ने उलमाओं की सभा की। उलमाओं ने फतवा दिया कि हकीकतराय या तो मुसलमान हो जाय नहीं तो उसका वध किया जाय। अंत में यह मामला लाहौर पहुँचा। लाहौर में उलमाओं का फैसला ही निश्चित रहा। अंत में हकीकतराय ने अपना धर्म त्यागना स्वीकार नहीं किया। माता का विलाप, तरुण पत्नी का प्रेम, मित्रों का स्नेह तथा संसार के अन्य पदार्थ उसे अपने कर्त्तव्य से नहीं टाल सके और धर्म के निमित्त उसका बलिदान हुआ।

* अहमदशाह दुर्रानी के पंजाब पर आक्रमण करने पर लाहौर का सूबेदार शाह नवाज़ खाँ भाग गया था, तब दिल्ली के बादशाह ने मीर मन्नू को लाहौर का सूबेदार करके भेजा था। "Anecdotes from Sikh History" नामक एक छोटी सी पुस्तिका में लिखा हुआ है कि मीर मन्नू ने यह आज्ञा दी थी कि जो कोई किसी सिक्ख को पकड़ लावेगा उसको अस्सी रुपया पारितोषिक मिलेगा। इस पर रुपये के लालच सिक्खों को पकड़वाने लगे। सिक्खों के लिये यह कठिन समय था, बस्ती

मन्नू ने सिक्खों का दमन करने के लिये और भी कठोर नीति का अवलंबन किया था। पर सिक्ख गण कठोर दमननीति से विचलित नहीं हुए। कुछ काल के लिये उदासीनता अवश्य

में कहीं कोई सिक्ख नहीं दिखलाई पड़ता था। सिक्ख जंगलों में गुफाओं के भीतर रहने लगे। पर अस्सी रुपये के लालच में कोई न कोई सिक्खों को पकड़वा देता था। नित्य प्रति गाजर मूली की भाँति सिक्खों को कटते हुए देखकर सभी लोग चकित हो गए थे। सिपाहियों के झुंड के झुंड सिक्खों को जहाँ तहाँ तलाश करने लगे। एक बार स्वयं सूबेदार ने तीन सौ सिक्ख महिलाओं को पहचान लिया। इन स्त्रियों में बूढ़ी, युवती सब ही प्रकार की थीं। उन में से कितनी ही अपने बच्चों को दूध पिला रही थीं और अपने पतियों को भोजन देने जा रही थीं। सूबेदार ने उन सब को गिरफ्तार कर लिया, एक कतार में एक रस्से में गूँगे बहरे जानवरों के समान बाँध कर वे लाहौर पहुँचाई गईं। वहाँ वे एक मसजिद के हाते में रखी गईं और २४ घंटे के भीतर सिर्फ एक-एक रोटी खाने और एक एक प्याला पानी पीने को उन्हें मिलने लगा। छोटे-छोटे बच्चे भूख से बिलखने लगे, वे सब यंत्रणाएँ धैर्य्यपूर्वक सहन करने लगीं। उनको बहुत से लोभ, लालच और भय मुसलमान होने के लिये दिखलाए गए, पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब तो सूबेदार ने हुक्म दिया कि माताओं के सामने ही दूध पीते बच्चों को कतल किया जाय। अपने सामने बच्चों को मरते देखकर भी उन्होंने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। सिक्खों ने जब यह सुना तो उन्होंने चुपचाप लाहौर पर आक्रमण किया, मीर

छा गई थी परंतु दमन-नीति के कारण उनके भीतर ही भीतर अशांति की ज्वाला प्रज्वलित होती रही जो पीछे जाकर फूट निकली।

मन्नू को आक्रमण का पता न लगा। उन्होंने अपनी धर्म-पत्नियों को मीर मन्नू की कैद से छुड़ाया, शहर के नामी-नामी पठानों तथा सूबेदार के महलों को लूटा और वे जंगलों में जा छिपे। मीर मन्नू की दमन-नीति से उकता कर उन्होंने इतना उत्पात किया कि सन् १७५४ में मीर मन्नू स्वयं सिक्खों का दमन करने के लिए दलन गाँव के पास एक बड़ी सेना लेकर जाने को तैयार हुआ। परंतु वह घोड़े से गिर कर मर गया, उसका लड़का छ महीने पीछे शीतला रोग से मर गया। दिल्ली के वजीर गाज़ीउद्दीन ने उसकी लड़की से जबरदस्ती शादी कर ली।

चतुर्थ खंड

अभ्युदय काल

(१) प्रारंभिक उद्योग

"If courage is gone, then all is gone
'Twere better that thou hadst never been
born.'

—Goethe.

"Wise men ne'er sit and wail their loss,
But cheerly seek how to redress their arms."

—Shakespeare.

संसार में वही जाति उन्नति के शिखर पर पहुँच सकती है, जिसने अनेक कष्टों को सहते हुए भी अपने लक्ष्य-साधन की चेष्टा की है। सिक्ख जाति के इतिहास में एक विशेषता है कि मुसलमानों के समय में बारबार दमन किए जाने पर भी उसने साहस नहीं छोड़ा। अनेक कष्ट सहन करने पर भी सिक्ख जाति हिम्मत हार कर नहीं बैठ गई। ज्यों ज्यों सिक्खों का दमन किया गया, त्यों त्यों वे मल पकड़ते गए। इस दृढ़ता और अटलता के विचार से ही सिक्ख जाति इतिहास में उच्च स्थान पाने योग्य है।

मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब की मृत्यु के साथ ही साथ मुग़ल साम्राज्य की नींव हिल चुकी थी। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों में ऐसा फिर कोई नहीं हुआ जो विशाल मुग़ल साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ होता। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात्

सारे देश में अराजकता छा गई । बृहत् साम्राज्य भिन्न भिन्न अंशों में बँट गया । अनेक प्रादेशिक शासनकर्ता अपने अधीन प्रदेशों को दबा बैठे । बंगाल, लखनऊ और हैदराबाद आदि स्थानों में छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए । महाराष्ट्रीय वीरों ने दिल्ली तक अपनी विजय-पताका फहरा कर मुसलमानों के कलेजों को दहला दिया था । रँगीले मुहम्मदशाह के समय में नादिरशाह का दिल्ली पर जो आक्रमण हुआ था उससे रही-सही मुग़ल साम्राज्य की जड़ और भी नष्ट हो गई थी । रुहेलखंड के अफ़गान उपनिवेशिक लोग और भरतपुर के जाट भी अत्यन्त शक्तिशाली हो गए थे । नादिरशाह के बाद अहमदशाह दुर्रानी के लगातार कई आक्रमण भारतवर्ष पर हुए । मुसलमानों के पारस्परिक विच्छेद से जहाँ मुग़ल साम्राज्य की जड़ हिल रही थी, वहाँ सिक्खों को अपनी उन्नति के निमित्त अवसर प्राप्त हुआ । पहले सिक्खों ने नादिरशाह के समय में छोटे छोटे दलों में विभक्त होकर लूट मार मचाई । जिस समय अहमदशाह दुर्रानी सरहिंद के मैदान में मीर मन्नू से लड़ कर लौटा और मीर मन्नू लाहौर का सूबेदार हुआ उस समय सिक्खों ने दुर्रानी की सेना पर पीछे से आक्रमण किया । अहमदशाह के आक्रमण के समय सिक्खों ने अमृतसर के निकट "रामरौनी" जिसे अब रामगढ़ कहते हैं, बना लिया । मीर मन्नू ने वह गढ़ी जीत ली और सिक्खों को किस प्रकार से तंग किया यह हम पिछले परिच्छेद में लिख चुके हैं । इस समय सिक्खों को एक बड़ा योग्य नेता मिल गया, जिसका नाम जस्सासिंह कलाल था, जिससे निर्भीक होकर यह घोषणा प्रचारित की थी की साम्राज्य के भीतर एक नई शक्ति का संचार हो गया है, जिसका नाम "खालसा" का "दल" अथवा "सिंहों की सेना" है ।

कालक्रम की घटनाओं को छोड़ कर यहाँ पर हमें केवल इतना ही कहना है कि जिस भाँति हिमालय से निकली गंगाजी की धारा को ऊपर ले जाना असंभव है, उसी प्रकार मुगल साम्राज्य का सिक्खों को दमन करना असंभव हो गया था। लूट खसौट करते, मरते मारते सिक्ख लोग यहाँ तक बढ़ गए थे कि उन्होंने अहमदशाह से भी अमृतसर के पास युद्ध किया। इस दीर्घकालव्यापी घोरतर युद्ध में दोनों ओर से किसकी जय पराजय हुई इसका निर्णय नहीं हुआ। परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस युद्ध के कारण ही अफगान लोगों को भारतवर्ष से हटना पड़ा था। सिक्ख सैन्य ने अनायास ही * लाहौर के

---

* १७६४ में अहमदशाह दुर्रानी अपने रुहिले प्रतिनिधि तथा सरसिंह के हाथ में से निकल जाने का समाचार सुन कर आया था। उस समय सिक्ख लाहौर के आस पास अपना अधिकार जमा चुके थे। लौटते समय अहमदशाह को वहाँ की दशा ज्ञात हुई। उसने कलानौर तक सिक्खों का पीछा किया, जहाँ पर बुलाकीचक के पास युद्ध हुआ और उसमें १५०० सिक्ख मारे गए। पर अहमदशाह वहाँ की व्यवस्था सुधारने के लिये विशेष कुछ न कर सका। उसके जाते ही सिक्ख लाहौर के पास इकट्ठे हो गए। भंगी वेश में लहनासिंह तथा गूजरसिंह ने अपनी अपनी सेनाओं सहित लाहौर के समीप डेरे डाले और किले के कुछ लोगों को, जो माली आदि का काम करते थे तथा किले के थानेदार को अपनी ओर मिला लिया। रात्रि के समय किले की दीवार तोड़ दी गई और गूजरसिंह ने चुने हुए पचास योद्धाओं को लेकर

शासनकर्त्ता काबुलीमल के शासन का उच्छेद किया। सिक्खों के अधीन विस्तृत विशाल राज्य हो गया। सिक्खों ने पहले वर्ष सरहिंद का विभाग किया था। सिक्ख राजगण तथा उनके अनुचरों ने इस विशाल राज्य का आपस में बटवारा कर लिया था। कितनी ही मसजिदों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। कैदी अफ़गानों को उनके धर्म के प्रतिकूल काम करने के लिये लाचार किया गया। इस घटना के पीछे सिक्ख सरदार अमृतसर में इकट्ठे हुए, उन्होंने अपना सिक्का भी प्रचलित किया। सिक्के में फ़ारसी अक्षरों में यह खुदा हुआ था—"देगो तेगो फ़तहो नुसरत वेदरंग याफ्त अज नानक गुरु गोविंदसिंह", अर्थात् "गुरु गोविंदसिंह ने नानक से अनुग्रह बल तथा क्षिप्र विजय प्राप्त की।" इस समय छोटी मोटी आपत्तियों से पार पाकर सिक्खों की

किले में प्रवेश किया। पहले प्रबंध किया जा चुका था, उसके अनुसार लहनासिंह को खबर देने के लिये, जो पूरी सेना लिये दुर्ग के बाहर खड़ा था, उस महल में आग लगा दी गई, जिसमें अहमदशाह लाहौर में जाकर ठहरा करता था। इस पर खालसा की समस्त सेना किले में दौड़ पड़ी। काबुलीमल कहीं गया हुआ था। उसके भतीजे अमरसिंह तथा उसके दामाद जगन्नाथ ने कुछ देर सामना किया किंतु वे शीघ्र ही हार गए और दुर्ग पर सिक्खों की विजय-पताका फहराने लगी। शहर लूटा जाने लगा, किंतु कुछ हिंदू मुसलमान रईसों के मध्यस्थ बनने पर कुछ समय पीछे लूट बंद कर दी गई। नगर तथा उसके चारों ओर के प्रांत को तीन भागों में बाँटा गया। लाहौर के दक्षिण की ओर का भाग

शक्ति का खूब विस्तार हो गया था। कितने ही स्थानों में उनके खंड-राज्य स्थापित हो गए थे। महाराज रणजीतसिंह के समय से पहले पंजाब प्रांत के अनेक स्थानों पर बारह मिसिल राज्य कर रही थीं। उस समय गुरु नानक और गुरु गोविंदसिंह का इन मिसिलों द्वारा अच्छा प्रचार हुआ। सिक्ख संप्रदाय में पंजाब के मालवा और माभा प्रांत के जाट ही शामिल थे। प्रायः ये मिसिलें भी जाटों की ही थीं। "मिसिल" एक अरबी शब्द है—इसका अर्थ समान पद का है। इसका दूसरा अर्थ "अस्त्र शस्त्र सुसज्जित पुरुष" या "रणकुशल" जाति है। इस देश में मिसिल शब्द को कागज पत्र की फाइल के लिये भी प्रयोग करते हैं। बारह मिसिलों का संक्षिप्त वर्णन यह है—(१) भंगी मिसिल—इस मिसिल का संस्थापक छज्जासिंह जाट था। छज्जासिंह ने धर्म की दीक्षा बंदा गुरु से ग्रहण की थी। इस मिसिल में हरीसिंह, झंडीसिंह, भीमसिंह, आदि कई नामी नेता हो गए हैं। हरीसिंह के पास बीस हजार योद्धाओं की सेना थी। इस मिसिल ने सन् १७१६से १८०२ तक पंजाब के अनेक स्थानों में राज्य किया। सन् १७६६ में रणजीतसिंह ने जब पंजाब ले लिया तब से यह मिसिल अस्त हो गई। इस मिसिल के आदि पुरुष भाँग बहुत पिया करते थे, इससे

नियाज बेग तक सोमासिंह के हिस्से में आया। काबुलीमल की हवेली और नगर का पूर्वीय भाग गूजरसिंह को दिया गया और लहनासिंह को किला और शाही मसजिद मिली। इस विजय से सिक्खों का राज्य झेलम के किनारे तक फैल गया अर्थात् उस नदी और यमुना के बीच समस्त देश में खालसा का ही आधिपत्य हो गया।
(The Transformation of Sikhism—pages 158-159)

इसका नाम भंगी पड़ा। (२) अहलूवालिया मिसिल—इसका संस्थापक जस्सासिंह कलाल था। उसके माता पिता अहलू ग्राम में रहते थे, इससे इसका नाम "अहलूवालिया" पड़ा। कपूरथला के राजा इसकी संतान में हैं। (३) रामगढ़िया मिसिल—इसका सरदार जस्सासिंह एक बढ़ई का पुत्र था। इसकी जागीर भी रणजीतसिंह के राज्य में मिल गई। इसके तीन हजार सवार युद्धक्षेत्र में आया करते थे। अमृतसर के पास रामरौनी गढ़ बनाने से इस मिसिल का नाम रामगढ़िया मिसिल पड़ा। (४) नाकिया मिसिल—लाहौर के दक्षिण में "नाकिया" एक गाँव था, उस प्रदेश में ही इस मिसिल की उत्पत्ति हुई। इस मिसिल का संस्थापक एक जाट चौधरी हेमराज का पुत्र हीरासिंह नामक था। समस्त राजवंशों के संस्थापकों के समान वह भी आरंभ में लुटेरा ही था और धीरे धीरे उसने एक इतना बड़ा प्रांत विजय कर लिया, जिसके द्वारा उसकी वार्षिक आय नौ लाख की हो गई थी। ज्ञानसिंह नामक इसके सरदार ने जो सन् १७९० में गद्दी पर बैठा था, अपनी बहिन राजकौर का विवाह रणजीतसिंह के साथ कर दिया। यह राजकौर खड्गसिंह की माता थी। ज्ञानसिंह ही नाकिया मिसिल का अंतिम स्वतंत्र सरदार था। उसकी मृत्यु के तीन वर्ष पीछे अर्थात् १८०७ में रणजीतसिंह ने इस मिसिल के राज्य को अपने अधीन कर ज्ञानसिंह के पुत्र कान्ह-सिंह को १५०००) रुपए की एक जागीर प्रदान की थी। (५) कन्हैया मिसिल—इस मिसिल का संस्थापक लाहौर से १५ मील पर कान्हा नामक ग्राम में रहनेवाले एक खुशाली नामक निर्धन जाट का पुत्र जयसिंह था। जयसिंह का रणजीतसिंह के पिता महानसिंह से कुछ झगड़ा हो गया था,

उसके प्रसन्न करने के निमित्त अपनी पोती महताबकौर की सगाई उसने रणजीतसिंह से कर दी। जयसिंह की मृत्यु सन् १७८९ में हो गई। उसकी पुत्रवधू सदाकौर गद्दी पर बैठी और सन् १८२० तक बड़ी योग्यता के साथ अपने प्रदेशों पर राज्य करती रही। १८२० में उसके दामाद महाराज रणजीतसिंह ने उसके प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। (६) दल्लेवाल मिसिल—इस मिसिल का संस्थापक डेरा बाबा नानक के निकट रावी नदी के तट पर डल्लेवाल नामक एक छोटे से गाँव का रहनेवाला गुलाबसिंह खत्री था। इस मिसिल की जागीर भी रणजीतसिंह के राज्य में मिल गई। (७) निशानवालिया मिसिल—इसके संस्थापक संगतिसिंह और मेहरसिंह थे। इस मिसिल के सरदारों के पास सिक्खों का विजय सूचक निशान (झंडा) रहता था। इसके राज्य से लाहौर के राजा को १२ सहस्र योद्धाओं की सहायता मिला करती थी। (८) सिंहपुरिया मिसिल—इस मिसिल का संस्थापक नवाब कपूरसिंह था। यह फैजल्लाहपुर के निकट रहता था पर बढ़ते बढ़ते पंजाब के सब से अधिक बलवान सरदारों में से एक हो गया। यह बड़ा बलवान और शक्तिशाली था। इसने अपने हाथ से पाँच सौ मुसलमानों का वध किया था। इससे सिक्ख धर्म की दीक्षा ग्रहण करने में लोग अपना विशेष गौरव समझते थे। इसने ही सिक्खों की एक व्यवस्थित सेना बनाई। इसके उत्तराधिकारी खुशालसिंह ने सतलज के इस पार का समस्त प्रदेश छीन लिया। (९) करोड़ासिंही मिसिल—इस मिसिल का दूसरा नाम पँजगढ़िया मिसिल भी है, क्योंकि इसका संस्थापक पंजगढ़ नामक गाँव का रहनेवाला करोड़ीमल नाम का एक जाट था। इस मिसिल की सेना में बारह हजार योद्धा थे, किंतु जातीय

दृष्टि से इस मिसिल का विशेष आदर नहीं है, क्योंकि करोड़ासिंह के उत्तराधिकारी भगेलसिंह ने सिक्खों का साथ न देकर सदैव उनके विपक्षियों का साथ दिया। (१०) शहीद तथा निहंग मिसिल—सतळज के पूर्वीय तट पर इस मिसिल का बहुत बड़ा प्रदेश था। इस मिसिल के लोग गुरु गोविंदसिंह के स्थापन किए हुए सिक्ख मत के प्राचीन शुद्ध स्वरूप को बनाए रखना अपना धर्म समझते थे। (११) फुलाकियाँ मिसिल—यह मिसिल सबसे अधिक महत्व की है, क्योंकि सिक्खों में सबसे पहले इस मिसिल के सरदार को ही मुसलमानों तथा स्वयं सिक्खों दोनों ने एक स्वाधीन राजा स्वीकार किया। इस मिसिल का संस्थापक फूल नामक एक जाट था। उसके वंशजों का अधिकार पटियाळा, नाभा और झिंद आदि राज्यों पर है। ये राज्य उसके नाम पर फुळकियान राज्य कहलाए। (१२) सुकर चकिया मिसिल—इसका संस्थापक सरदार चरतसिंह, महाराज रणजीतसिंह का परदादा था। इन मिसिलों ने पंजाब के समस्त भागों पर अपना अधिकार जमा लिया था। इन मिसिलों में कभी कभी आपस में भी मुठभेड़ हो जाया करती थी। मिसिलों के अधिकार की सीमाएँ शीघ्र शीघ्र परिवर्त्तन होती रहती थीं। कभी कभी सब मिलकर मुसलमानों का सामना भी करते थे। अमृतसर में दीवाळी और वैशाखी के मेलों पर वर्ष में एक बेर सभाएँ बैठती थीं। इन सभाओं में विशेष विशेष विषयों का निर्णय भी होता था।

सिक्खों की घुड़सवार सेना अधिक थी। कई इतिहास लेखकों ने लिखा है कि उनकी घुड़सवार सेना की संख्या ७० हजार से * दो लाख अस्सी हजार तक हो सकती है।

* फोर्स्टर की यात्रा (Travels) में लिखा है कि सन्

घोड़े प्रायः भटिंडा के निकट लक्खी जंगल में पाले जाते थे और यह समझा जाता था कि प्रत्येक सच्चा खालसा एक घुड़सवार है। वास्तव में कई वर्ष तक काठी ही खालसा का घर रही थी। पहाड़ी प्रदेश के या समतल भूमि के अर्द्धबर्ब्बर अधिवासियों में या अशिक्षित सैन्य संप्रदाय में घुड़सवार सिक्ख सेना को दमन करना कठिन था।

सन् १७६२ में लाहौर की पराजित सेना ख्वाजा ओवेद के नेतृत्व में जो १२ तोपें गुजरानवाले में छोड़ दी गई थीं, उन तोपों के लेने के पूर्व ऐसा प्रतीत होता था कि सिक्खों के पास कोई तोप नहीं थी। किंतु यह भी अनुमान हो सकता है कि सिक्खों ने किसी युद्ध में इन तोपों का भी प्रयोग नहीं किया। सन् १८०० ई० तक उनके पास चालीस से अधिक तोपें (field-guns) न थीं। "जब सिक्ख युद्ध के लिये तैयार होते

१७८३ में सिक्ख सैन्य की संख्या तीन लाख थी, लेकिन सिक्ख सैन्य का अनुमान दो लाख भी हो सकता है। ब्राउन साहब ने सिक्खों की ७३ हजार और २५ हजार पैदल सेना लिखी है। इसके प्रायः बीस साल बाद कर्नल फ्रांकलिन ने "Life of Shah Alam" में लिखा है कि सिक्ख लोगों की दो लाख अड़तालीस हजार घुड़सवार सेना थी। उक्त कर्नल फ्रांकलिन ने एक और पुस्तक "Life of George Thomas" में लिखा है कि युद्ध के समय सिक्ख लोग ६४ हजार से अधिक सेना संग्रह नहीं कर सकते थे। जार्ज टॉमस ने लिखा है कि उस समय सिक्खों की साठ हजार घुड़सवार और पाँच हजार पैदल सेना थी।

थे तो वे प्रायः तलवार, भाले तथा दस्ती बंदूकें (muskets) ले जाते थे। सिक्ख लोग शीघ्र ही घोड़े की पीठ पर से बंदूक का ठीक ठीक निशाना लगाने में प्रसिद्ध हो गए थे, और कहा जाता है कि यह निपुणता उन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त की थी, जो कि धनुष के प्रयोग मे अत्यंत निपुण थे।

आरंभ के दिनों में सिक्खों का सैनिक पहरावा उचित नहीं था। प्रत्येक साधारण सैनिक एक पगड़ी, एक कुरता और एक जाँघिया पहने रहता था और उसके पाँव में एक कसा हुआ देशी जूता होता था। स्यात् सरदार अर्थात् सेनापति शृंखलों का कवच पहनते थे और उसके साथ एक फ़ौलाद का शिरस्त्राण तथा छाती, पीठ, कलाई और जंघा के लिये कवच धारण करते थे।

रणजीतसिंह से पूर्व सिक्खों में क़वायत वगैरह कुछ प्रचलित नहीं थी। वे जानते भी न थे कि क़वायत किस चिड़िया का नाम है? क़वायत के स्थान पर केवल उनके अदम्य उत्साह और अनुपम साहस के कारण ही, उन्होंने क़वायत वगैरह: न जानने और युद्ध का अन्य सामान न होने पर भी केवल अपने आत्मिक बल के सहारे असंभव को भी संभव कर दिखलाया। किसको मालूम था कि दो सौ वर्ष पूर्व जिन सिक्खों के हाथ में माला थी, जो जाट हल जोतते थे, वे दो शताब्दियों में इतने पलट जाँयगे कि उनके हाथ में माला और हल के स्थान में तलवार और बंदूक दिखलाई पड़ेगी। और जो बड़े भारी मुग़ल साम्राज्य को उच्छेद करने में समर्थ होंगे। परमात्मा उसी की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करता है। इस मंत्रबल को हृदय में धारण

करके, अपने भुजबल के भरोसे गुरु गोविंदसिंह के महान् उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई *।

† सिक्खों के युद्ध करने का ढंग विचित्र ही था। युद्ध करने का निराला ढंग होने पर भी विजय-लक्ष्मी समय समय पर उन्हें वरमाल पहनाती रही थी।

---

*ओसबर्न ने "Court and Camp of Ranjit Singh" में लिखा है कि सिक्खों की जातीय पताका प्राचीन हिंदू पताका के अनुरूप केसरी रंग की होती थी। सिक्खों का सिंहनाद यह था "सत श्री अकाल, वाह गुरु जी का खालसा, श्री वाह गुरु जी की फतह"।

† मेजर फ्रांकलिन ने सिक्खों के युद्ध करने का जो वर्णन किया है उसका सार यह है—"सिक्खों के शस्त्र एक भाला, एक बंदूक और एक तलवार है। टामस साहब के कथनानुसार उनके युद्ध करने का ढंग ही निराला है। स्नान, प्रार्थना प्रभृति आवश्यक धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करके, वे एक विचित्र सावधानी के साथ अपने सिर तथा दाढ़ी में कंघी करते हैं। फिर अपने घोड़ों पर सवार हो, वे शत्रु की ओर जाते हैं और कभी आगे बढ़ते हुए और कभी पीछे हटते हुए उनके साथ लगातार युद्ध करते रहते हैं।" यहाँ तक कि घोड़ा और सवार दोनों एक समान थक जाते हैं। फिर वे अपने वैरी से कुछ दूर निकल जाते हैं और खेतों में अपने घोड़ों को स्वच्छंद चरने के लिये छोड़ देते हैं और स्वयं अपने लिये कुछ चना चबैना भुना लेते हैं और उसी में से

उस समय सिक्खों की एक सभा हुआ करती थी जो गुरु-मत कहलाती थी। आश्विन शुक्ला दशमी का, जिसको विजया-दशमी कहते हैं, देशी रजवाड़ों में विशेष गौरव है। उस दिन देशी नरेश आज भी बड़े ठाट बाट से विजयादशमी का उत्सव मनाते हैं। देशी नरेशों में उस अवसर पर अमृतसर में* "गुरु-

---

थोड़ा सा खा पीकर क्षुधा निवारण करके, यदि वैरी निकट हो तो फिर लड़ना आरंभ कर देते हैं और यदि दुश्मन पीछे हट गया हो तो अपने घोड़े को दाना तथा अपने खाने के लिये कुछ प्रबंध करते हैं। देश में शत्रुओं के रहते हुए वे कभी डेरे के सुख का अनुभव नहीं करते। इसलिये एक सिक्ख सैनिक का भोजन उत्तम स्वादिष्ट नहीं होता है। वे पृथ्वी पर बैठे रहते हैं, उनके सामने चटाई पड़ी होती है और एक ब्राह्मण जो केवल इसी कार्य के लिये रहता है, प्रत्येक सैनिक के सामने थोड़ा-थोड़ा भोजन परोसता है। आटे की रोटियाँ जिन्हें वे खाते हैं उनके लिये रकाबियों का काम देती हैं। लड़कपन से ही परिश्रमी और कष्टसहिष्णु होने के कारण सिक्ख लोगों को डेरे से घृणा होती है। डेरे के स्थान पर प्रत्येक सवार को दो कंबल मिलते हैं, एक अपने लिये और दूसरा घोड़े के लिये। यह कंबल काठी के नीचे रखे रहते हैं। दानों का बोरा और एक एड़ी की रस्सी प्रत्येक सिक्ख के साथ रहती है। कुल मिलाकर युद्ध के समय केवल इतना ही असबाब उनके पास होता है। वे रोटी पकाने के बर्तन टट्टुओं पर ले जाते हैं।

* "गुरुमत" अथवा "गुरमत" का निमंत्रण करनेवाले अकाली

मत" नाम की एक सभा होती थी जिसमें सिक्ख लोग परस्पर के झगड़ों का बहुमत से निबटारा करते थे। उस समय सिक्खों में प्रजातंत्र का भाव ऐसा प्रचलित था कि कोई सिक्ख किसी के अधीन अपने को नहीं समझता था। भूमि कर से सिक्ख सरदारों को दो प्रकार की आमदनी हुआ करती थी। एक उस भूमि से जो स्वयं सिक्खों के अधीन थी और दूसरी उस भूमि से जो सिक्खों के अधीन हो चुकी थी, पर प्रबंध के लिये

लोग होते थे। अकाली लोग एक प्रकार से सिक्खों के योद्धा पुरोहित थे। वे किसी के अधीन नहीं होते थे। वे मंदिर के रक्षक होते थे। मेलकम साहब ने इस "गुरमत" का मनोरंजक वृत्तांत इस प्रकार लिखा है—"इस अवसर पर सिक्ख लोग अपने व्यक्तिगत द्वेषों का अंत कर देते थे। किसी बात का विचार नहीं करते थे। सरदार लोग तथा मुख्य मुख्य नेता बैठ जाते थे और 'आदिग्रंथ' तथा दसवें बादशाह के ग्रंथ सामने रक्खे जाते थे। ग्रंथों के सामने लोग सिर झुकाते थे—'वाह गुरुजी का खालसा' इत्यादि आवाज लगाते थे, कड़ाह प्रसाद को नमस्कार करते और प्रार्थना करते थे। फिर सब अपने अपने स्थान पर बैठ जाते थे। इसके अनतर अकाली चिल्ला कर कहते थे—"सरदारो! यह "गुरमत्ता" है।" इस पर सरदार एक दूसरे से कहते थे—"पवित्र ग्रंथ साहब हमारे बीच में हैं। आओ हम सब अपने धर्मग्रंथ की शपथ खावें कि हम समस्त पारस्परिक झगड़ों को भूल कर एक मत हो कार्य करेंगे।"

दूसरों को सौंप दी गई थी। दूसरे कर को "राखी" कहा जाता था। राखी का रूपया सरकारी लगान के पाँचवें हिस्से से लेकर आधे तक होता था। और भी बहुत सी चीजों पर जो कर लिए जाते थे उनमें भी बहुत सी सुविधाएँ थीं। मालकम आदि इतिहास लेखकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि सिक्ख-साम्राज्य से पूर्व प्रजा कर के भार से दब रही थी। * सिक्खों के प्रारंभिक शासन की और भी बहुत सी बातें हैं, जिनको हम यहाँ स्थान के संकोच के कारण लिखने में असमर्थ हैं।

---

* पंजाब के डाक्टर गोकुलचंद नारंग लिखित "The Transformation of the Sikhism" में इसका विस्तृत वर्णन पढ़ने योग्य है।

(२) पूर्णोदय

महाराजा रणजीतसिंह

"एकेनापि हि शूरेण पादाक्रांतं महीतलम्
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरित तेजसा"

सिक्खों का पूर्णोदय पंजाबकेसरी * महाराज रणजीतसिंह के समय में हुआ था। रणजीतसिंह ने खंड खंड राज्यों को

---

* रणजीतसिंह "सुकरचकिया मिसिल" के थे। रणजीतसिंह के दादा चरतसिंह बड़े वीर थे। गुजरानवाला में एक कच्चा किला बना था; और लाहौर के सूबेदार उवेद खाँ से उन्होंने विजयलाभ किया था। जम्मू के राजा रणजीतदेव का बेटा अपने बाप से नाराज़ होकर सरदार चरतसिंह के पास चला आया और कुछ रुपया वार्षिक देना स्वीकार करके उसने अपने बाप से लड़ने में सहायता चाही। चरतसिंह कन्हैया मिसिलवाले को साथ लेकर जम्मू पर चढ़ गए और भंगी मिसिल के सिक्ख झंडासिंह के साथ रणजीतदेव की मदद के वास्ते गए थे। चंबा, नूरपूर, कांगड़ा आदि पहाड़ी राजा भी उसकी सहायता के लिये आए थे। किंतु चरतसिंह युद्ध के आरंभ में ही बंदूक फट जाने के कारण ४५ वर्ष की अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो गए। उनका लड़का महासिंह जो उस समय दस वर्ष का था, अपने बाप की गद्दी पर बैठा। इसका विवाह राजा गजपतसिंह जींदवाले की बेटी के साथ हुआ।

पददलित करके विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित किया था। हम पहले कह आए हैं कि उस समय सिक्खों के खंड खंड राज्य होने पर भी प्रत्येक सिक्ख सरदार स्वतंत्र था। उनमें से कोई कोई अंग्रेजों का पक्ष करता था। महाराष्ट्र वीरों की वीरता का भी डंका बज चुका था। कोई कोई महाराष्ट्रों की छत्रछाया में अपने भाग्य की परीक्षा करना चाहते थे। केवल एक दूरदर्शी

सन् १७७८ ई० में महासिंह ने रसूल नगर को जिसका नाम सिक्खों ने रामनगर रखा था, लूटा। सन् १७८० में जींदवाली रानी से रणजीतसिंह का जन्म हुआ। बाल्यावस्था में रणजीतसिंह की शीतला रोग के कारण एक आँख जाती रही। इस बीच में जम्मु का राना रणजीतदेव मर गया और उसका पुत्र व्रजराजदेव गद्दी पर बैठा। महासिंह ने इस अवसर पर नजराना वसूल करने के लिये जम्मू पर चढ़ाई कर दी। व्रजराज तो पहाड़ों की तरफ भाग गया और सिक्खों ने मनमाना जम्मू शहर लूटा। उनके हाथ खूब धन लगा। लौटने पर कन्हाई मिसिल के जयसिंह से इनकी चेत गई। जस्सासिंह रामगढ़िया और राना संसारचंद्र कटोच कांगड़े-वाले उसके सहायक थे। जयसिंह का बेटा गुरबख्शसिंह इस युद्ध में मारा गया। कन्हाई मिसिलवाले हार गए। इस पर आपस में संधि हो गई, जिसमें बटाला शहर महासिंह के हाथ लगा। कुछ दिन पीछे गुरबख्शसिंह की स्त्री सदाकौर ने इसे अपने अधीन कर लिया। सन् १७८५ में रणजीतसिंह का सदाकौर की लड़की महताबकौर के साथ विवाह हुआ। भंगी और कन्हाई मिसिलों का

रणजीतसिंह ही विदेशियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रख कर सिक्ख साम्राज्य की स्वाधीनता की पताका फहराना चाहते थे। गुरु गोविंदसिंह ने मतमतांतर संबंधी द्वेषाग्नि को दूर करके भिन्न भिन्न सांप्रदायिक मतभेदों को दूर करके एक महाबली जाति का संगठन किया था। * रणजीतसिंह ने भी उसी तरह सिक्ख जाति का एक सुव्यवस्थित और सुनियमबद्ध राज्य

बल घट जाने पर और कटोच रामगढ़िया से मित्रता होने के कारण महासिंह का अधिकार और भी बढ़ गया। २७ वर्ष के हो कर महासिंह परलोक सिधारे। उन्होंने १७ वर्ष की उम्र में अपनी माँ को सच्चरित्रा न होने के कारण मार डाला। रणजीतसिंह अपने बाप के मरने के समय दस वर्ष के थे। उनकी माँ और सास दीवान सुक्खा के साथ अपनी जागीरों का काम करने लगी थीं। रणजीतसिंह का दूसरा विवाह सरदार खज़ानसिंह की लड़की राजकौर के साथ हुआ। १७ वर्ष की उम्र में रणजीतसिंह ने अपने पिता के समान अपनी माता का सच्चरित्रा न होने के कारण वध कर डाला और दीवान को निकाल बाहर किया और सब अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

* सन् १७९१ में शाहज़मां काबुलवाले ने पंजाब पर चढ़ाई की थी। रणजीतसिंह और सब सरदारों को सतलज के इस पार भागना पड़ा। कई महीनों के पीछे जब शाह अपने देश की ओर लौट गया तब सिक्ख लोग अपने स्थानों पर पहुँच गए; किंतु रणजीतसिंह ने सदाकौर की सेना लेकर लाहौर पर धावा किया।

अथवा यों कहिये कि साधारण तंत्र के निर्माण करने में बहुत कुछ चेष्टा की थी और उनकी यह चेष्टा सफल भी हुई।

सन् १८०५ ई० में रणजीतसिंह ने हरिद्वार में गंगास्नान किया था। एक प्रकार से यही वर्ष उनके अभ्युदय का कहना चाहिए। इन्हीं दिनों जसवंतराव होलकर और अमीर खाँ दोनों ने अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किए थे। होलकर की अंग्रेजी सेना से कितने ही स्थानों में मुठभेड़ हुई थी। होलकर कितने स्थानों में शरण लेते हुए, पंजाब तक पहुँच गए थे। कहते हैं, होलकर ने अपनी मोहनी शक्ति के बल से पंजाब के कुछ सिक्खों को उभाड़ना चाहा था; परंतु लार्ड लेक भी होलकर का पीछा

चेतसिंह, मुहरसिंह और साहनसिंह तीनों सरदारों को वहाँ से निकाल कर उनको कुछ कुछ जागीरें दे दीं। सन् १८०१ में रानी राजकौर से रणजीतसिंह के पुत्र खड्गसिंह का जन्म हुआ। रणजीतसिंह एक एक सिक्ख सरदार को अपने अधीन करते थे। काबुल के तैमूरशाह के चारों बेटे हुमायूँ शाह, महमूद, शाहजमाँ और सूजा में परस्पर फूट पड़ गई थी। इससे अफगानों का बल घट गया। सतलज से लेकर सिंध नदी तक रणजीतसिंह का दबदबा छा गया। क्या सिक्ख क्या अफगान सभी को उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १८०४-५ ई० में रणजीतसिंह पश्चिम की ओर गए। झंग और शाहवाल के मुसल्मान शासकों ने उनकी वश्यता स्वीकार की। रणजीतसिंह उनसे कर उगाहने लगे। मुलतान के मुजफ्फर खाँ ने बहुत-सा धन उनको भेंट किया था। इसलिये

ही करते रहे, इस कारण जसवंतराव होलकर की मोहनी शक्ति कार्य्य नहीं कर सकी। * सन् १८०५ ई० की २४ वीं दिसंबर को एक संधि हुई जिससे होलकर को मध्यभारत लौटने की अनुमति मिली। इसी अवसर पर अमृतसर में † लार्ड लेक की

रणजीतसिंह ने उस पर आक्रमण नहीं किया था, लेकिन राय कन्हैया लाल अपने पञ्जाब के इतिहास में इस युद्ध का विशेष वृत्तांत लिखते हैं कि नवाब और रणजीतसिंह की सेना में खूब लड़ाई हुई, जिसमें रणजीतसिंह की विजय हुई। रणजीतसिंह की सेना ने नगरनिवासियों को खूब लूटा। अंत में नवाब ने संधि की। परंतु अन्य किसी इतिहासलेखक ने यह बात नहीं लिखी है। अन्य इतिहासलेखकों ने ऊपर जो कुछ वृत्तांत दिया है, वही लिखा है। दीवान अमरनाथ, मेकगारगी आदि सभी इतिहासलेखकों ने यही लिखा है कि रणजीतसिंह और नवाब में लड़ाई नहीं हुई।

* स्मिथ (Smith) ने लिखा है कि लाहौर में रणजीतसिंह ने जसवंतराव होलकर से मुलाकात की थी। परंतु इस कथन में संदेह है कि जसवंतराव होलकर कभी लाहौर गए थे। जसवंतराव होलकर के लाहौर न जाने के संबंध में सब इतिहासलेखक, मरे, कनिंगहम, राय कन्हैया लाल, दीवान अमरनाथ आदि का एक मत है, जिससे स्पष्ट है कि होलकर ने लाहौर में कभी पैर नहीं रखा था।

† कनिंगहम ने लिखा है कि रणजीतसिंह ने छिपकर अंग्रेजों का शिविर देखा था।

महाराजा रणजीतसिंह से भेंट हुई। १ ली जनवरी सन् १८०६ को रणजीतसिंह और सरदार फ़तहसिंह अहलुवालिया की अँग्रेजों से संधि हुई। इस संधि में निश्चय हुआ कि होलकर को अमृतसर से लौट जाना होगा और जब तक होलकर लौटेंगे, तब तक दोनों सरदार बधुत्व-सूत्र में आबद्ध रहेंगे और अंग्रेज गवर्नमेंट उनके राज्य पर अधिकार के लिये किसी षड्यंत्र का साथ न देगी। *

---

* इस संधिपत्र का सारांश यह है कि सरदार रणजीतसिंह और सरदार फतेहसिंह अहलूवालिया दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि दोनों सरदार इसका उपाय करेंगे कि जिससे जसवतराव होलकर अपनी सेना के साथ सिक्ख राज्य छोड़ अमृतसर से तीस कोस दूर किसी स्थान पर जाने को लाचार हों। इसके बाद होलकर से उनका कोई संबंध नहीं रहेगा। सेना द्वारा अथवा और किसी प्रकार से वे होलकर की किसी तरह की सहायता नहीं करेंगे। (२) यदि ब्रिटिश गवर्मेंट और जसवंतराव होलकर में सधि और शांति न हो, तो जसवंतराव होलकर की सेना के बढ़ते ही वर्त्तमान छावनी तोड़ ब्रिटिश सेना पियाशा नदी के किनारे अपने डेरे डंडे जमावेगी। यदि इसके बाद ब्रिटिश गवर्मेंट और होलकर में कोई संधि होगी तो उस सधिक्रम से निर्द्धारित होगा कि उस सधि के निष्पन्न होने के कुछ ही दिनों बाद, सिक्खों का अधिकृत राज्य छोड़ होलकर अपने राज्य में चले जायँगे। लौटने के समय होलकर यदि किसी सिक्ख राज्य या राज्यांश के बीच से जायँ तो उस राज्य या राज्यांश की

संधि हो जाने पर होलकर पंजाब से चल दिया। अंग्रेज गवर्नमेंट के साथ रणजीतसिंह की मित्रता हो जाने पर भी, संधि के स्थायित्व के संबंध में किसी प्रकार का निश्चय नहीं था। उस समय के नाभा के सरदार और पटियाले के राजा में आपस में विवाद चल रहा था। रणजीतसिंह ने भी उस विवाद में योग दिया। इससे पहले सन् १८०६ में रणजीतसिंह ने लुधियाने का किला, शहर और इलाका रानी नूरुन्निसा से छीन कर राजा बाघसिंह झींदवाले को दे दिया। सतलज पार करके रणजीतसिंह पटियाला पहुँचे। रणजीतसिंह का वहाँ जाने का अभिप्राय यही था कि नाभा के राजा जसवतसिंह को सहायता दी जाय और पटियाले के राजा साहबसिंह की क्षमता घटाई जाय। किंतु जसवंतसिंह और साहबसिंह दोनों ने ही रणजीतसिंह के मध्यस्थ होने में कुशल नहीं समझी। बस दोनों ने

कुछ हानि नहीं कर सकेंगे। उनके द्वारा उस राज्य का कोई अंश विध्वंस नहीं होगा। ब्रिटिश गवर्मेंट इस सधि की शर्त में यह और स्वीकार करती है कि यदि दोनों नरेश सरदार रणजीतसिंह और सरदार फतहसिंह जब तक ब्रिटिश गवर्मेंट के शत्रुओं से किसी प्रकार का मेल मिलाप न करेंगे अथवा उनकी किसी प्रकार की सहायता न करेंगे और जब तक ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शस्त्र धारण न करेंगे, तब तक ब्रिटिश सेना कभी इन दोनों नरेशों के राज्य में प्रवेश न करेगी। उनके राज्य या धन संपत्ति पर आक्रमण या अधिकार की सब तरह की चेष्टाओं से ब्रिटिश गवर्मेंट तब तक अलग रहेगी।

उनके हाथ से मुक्ति प्राप्त करने में अपना सौभाग्य समझा। रणजीतसिंह पटियाले के राजा साहबसिंह से एक तोप और नाभा के राजा जसवंतसिंह से कुछ रुपया भेंट ले कर वहाँ से चल दिए।

इसी समय कटौच के संसारचंद्र का गोर्खों से युद्ध छिड़ गया। इससे उनकी क्षमता बहुत कुछ घट गई। अध्यवसायशील सुदक्ष सिक्ख सरदार, पुराने पहाड़ी राजाओं में सबको ही उस साधारण शत्रु के विरुद्ध उत्तेजित कर, एकता बंधन में आबद्ध कर सकते थे किंतु प्रभुत्व और प्रतिष्ठा की उत्कट लालसा के कारण ही संसारचंद्र ने कालुर या बिलासपुर के सरदार की क्षमता घटाई थी। तब चारों ओर से निराश हो कर, कोई उपाय न देख कर उस सिक्ख सरदार ने नैपाल सेनापति की शरण लेकर अपने भाग्य के निश्चय की ठानी थी। शत्रुओं के प्रति इस पहले आक्रमण में नालागढ़ के सरदार युवक ने इस युद्ध में अत्यंत वीरता प्रकट की थी। परंतु उस युवक के अत्यंत वीरता प्रकट करने पर भी अंत में सतलज और यमुना के बीच विशाल विशाल राजखंडों में गोर्खा-प्रभुत्व प्रतिष्ठित हुआ। रणजीतसिंह ज्वालामुखी दर्शन करने के लिये गए थे, तब संसारचंद्र ने रणजीतसिंह से सहायता की प्रार्थना की थी। परंतु वे उनकी सहायता प्राप्त नहीं कर सके।

सन् १८०७ में रणजीतसिंह ने नवाब कुतुबुद्दीन कसूरवाले का इलाका निहालसिंह अटारीवाले को जागीर में दे दिया। इस वर्ष रणजीतसिंह ने और भी कई स्थानों में विजय प्राप्त की थी। इसी वर्ष पटियाले के तत्कालीन राजा और उनकी षड्‌यंत्रकारिणी स्त्री में पारस्परिक घोर विवाद हुआ। रानी ने इस विवाद को निपटाने के लिये रणजीतसिंह से प्रार्थना की।

रणजीतसिंह सतलज पार करके सन् १८०७ ई० के सितंबर मास में वहाँ पहुँच गए। पटियाले की रानी अपने पुत्र कुँवर करमसिंह के लिये उस समय दुर्बल स्वामी से राज्य का एक बड़ा भाग बलपूर्वक हस्तगत करना चाहती थी। पटियाले की रानी ने जिसका नाम आसकौर था रणजीतसिंह को एक पीतल की बड़ी तोप जिसका नाम कड़े खाँ था और एक हीरे का हार देने की प्रतिज्ञा पर बुलाया। * रणजीतसिंह इस झगड़े का निबटारा करने में समर्थ हुए। बालक के भरण पोषण के लिये उन्होंने पचास हजार की जागीर नियत कर दी। रणजीतसिंह ने पटियालावाली तोप का नाम † कड़े खाँ अथवा कुरी खाँ रखा।

---

* राय कन्हैया लाल लिखते हैं कि—जब पटियाले के राजा साहबसिंह और रानी में संधि हो चुकी तब रणजीतसिंह ने पटियाला के राजा के लड़के करमसिंह को अपनी गोद में बैठाया। लड़का महाराज की गर्दन में हीरे का हार देख कर चिल्ला उठा और रो कर कहने लगा कि—"यह वही हार है जो मैं पहना करता था, मुझे दे दीजिएगा"। रणजीतसिंह ने बच्चे को वह हार दे दिया था। खलीफ़ा मुहम्मद हुसेन ने अपनी पुस्तक "तवारीखे पटियाला" और सर लेपिन ग्रेफिन ने "Punjab Rajas" में इस विषय में कुछ नहीं लिखा है। करमसिंह का जन्म सन् १७९८ में लिखा हुआ था, उनकी अवस्था उस समय दस वर्ष की होगी।

† सन् १८४५ में फिरोज़ शहर के युद्ध में अंग्रेज़ों ने यह तोप महाराजा पटियाला को दे दी।

इसके पीछे रणजीतसिंह ने अंबाला और पर्वतमाला के मध्यवर्ती एक राजपूत परिवार के नारायणगढ़ पर आक्रमण किया, किंतु प्रथम बार रणजीतसिंह की हार हुई, उन्हें इससे विशेष क्षतिग्रस्त होना पड़ा; पीछे उन्होंने उस स्थान पर अपना अधिकार जमा लिया। आक्रमण के समय दलवाला मिसिल के पुराने राजा तारासिंह लाहौर की सेना के साथ युद्ध करते थे। नारायणगढ़ में उनकी मृत्यु हुई। (*) रणजीतसिंह ने

(*) कनिंगहम ने लिखा है—"वृद्ध नरपति तारासिंह की विधवा पत्नी साहस और शक्ति में पटियाले के राजा की बहन की समकक्ष थी। कहते हैं उस रमणी ने अपनी पोशाक पहन रणवेश में राहुन के दुर्ग की टूटी प्राचीर पर हाथ में अस्त्र ले कर युद्ध किया था। लतीफ़ लिखता है—नारायणगढ़ के पतन होने से पहले ही तारासिंह का देहांत हो गया था। तारासिंह लाहौर की सेना के साथ "नारायणगढ़" गए थे। तारासिंह के देहांत होने पर उनके साथी उनका शव राहुन के किले में अंत्येष्टि क्रिया करने के लिये ले गए थे और जब उक्त किले में अंत्येष्टि क्रिया हो रही थी उस समय रणजीतसिंह की सेना ने तारासिंह की विधवा पत्नी और पुत्रों से खजाना माँगा। इस पर तारासिंह की विधवा पत्नी तलवार लेकर युद्धक्षेत्र में आई पर किले की दीवालें टूट चुकी थीं, रणजीतसिंह की सेना ने विजय प्राप्त की। तारासिंह की वृद्धा विधवा और उनके लड़कों के लिये आर्थिक सहायता नियत की गई थी, जो फिर थोड़े दिन बाद ही बंद कर दी गई।

राजा तारासिंह से राज्य जालंधर दोआब को अपने अधिकार में कर लिया।

सन् १८०८ ई० में उत्तर पंजाब के बहुत से स्थानों पर रणजीतसिंह का आधिपत्य हो गया था। कितने ही स्वाधीन सिक्ख राज्यों ने रणजीतसिंह की अधीनता स्वीकार करने मे अपना सौभाग्य समझा था। कुछ दिन * पहले सतलज के पश्चिम किनारे के कुछ राज्य रणजीतसिंह के हाथ आ चुके थे, जिनके प्रबंध का भार दीवान मोहकमचद पर था। रणजीतसिंह के धारावाहिक आक्रमणों से सरहिंद के सिक्खों के मन में भय का संचार हुआ था। † इस भाँति रणजीतसिंह से भयभीत होकर झींद और कैथल के राजा और पटियाले के दीवान मंत्री

---

* जब सन् १८०७ में रणजीतसिंह लाहौर लौट आए तब उनकी सास सदाकौर ने दो लड़के शेरसिंह और तारासिंह, रणजीतसिंह को भेंट किए और उनसे कहा—"आपकी स्त्री अर्थात् मेरी लड़की महताबकौर के गर्भ से ये उत्पन्न हुए हैं। लतीफ और कई इतिहासलेखक लिखते हैं कि ये लड़के रणजीतसिंह की स्त्री महताबकौर के गर्भ से नहीं हुए, केवल रणजीतसिंह को प्रसन्न करने के लिये उनकी सास ने भेंट किए थे। शेरसिंह एक जुलाहे का लड़का था, तारासिंह एक मुसलमान दासी का पुत्र था। लतीफ़ लिखता है कि रणजीतसिंह ने धोखा नहीं खाया, पर बाप कहलाने के चाव से वे उन्हें राजकुमार कहते रहे।

† सन् १८०८ में रणजीतसिंह ने सरदार जयसिंह कन्हिका से पठानकोट का किला ले लिया। यह किला पहाड़ पर था।

प्रभृति मिलकर अंग्रेजों से सहायता के लिये प्रार्थना करने को दिल्ली की ओर गए थे, पर दिल्ली के रेजीडेंट ने उन्हें कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। इधर अंगरेजों ने भी रणजीतसिंह से संधि करने का निश्चय किया, क्योंकि भारत पर फ्रांस के महावीर नेपोलियन के आक्रमण का भय था। नेपोलियन के भारत-आक्रमण की अभिसंधि के सदेह में अंगरेजों को अफ़गान और सिक्खों के साथ आत्मरक्षणोपयोगी सधि के लिये लाचार होना पड़ा था। एलफिन्स्टन काबुल के शाह सूजा के दरबार में प्रतिनिधि स्वरूप भेजे गए थे। सर जान मालकम फारस की राजधानी तेहरान को प्रतिनिधि स्वरूप भेजे गए थे। सन् १८०८ के * सितबर महीने में मिस्टर (जो पीछे लार्ड हो

किलेदार रणजीतसिंह के आगमन का समाचार सुनते ही भाग गया। राजा ने रणजीतसिंह को बहुत-सा नजराना देकर अधीनता स्वीकार कर ली। चंबा के राजा ने भी रणजीतसिंह को बहुत-सा नज़राना देकर अधीनता स्वीकार की। और भी कई पहाड़ी राजाओं ने अधीनता स्वीकार कर ली।

* लतीफ अगस्त मास बतलाता है। वह लिखता है कि पटियाले के राजा ने मेटकाफ के सामने अपने यहाँ के कोषादि की सब तालियाँ रख दीं, जिसका अभिप्राय यह था कि मैं ब्रिटिश गवर्मेंट की शरण हूँ। चार्ल्स मेटकाफ के लाहौर जाने के पहले सन् १८०८ के एप्रिल मास (वैशाख) में ब्रिटिश एजेंट पहुँचा था। लाहौर में ब्रिटिश एजेंट के पहुँचने का उद्देश्य महाराजा रणजीतसिंह और ईस्ट इंडिया कंपनी की मित्रता को दृढ़ करना था।

गए थे) सी० एफ़० मेटकाफ रणजीतसिंह के दरबार मे लाहौर भेजे गए थे।

महाराज रणजीतसिंह की इस समय अत्यंत महत्वाकांक्षाएँ थीं। वे छोटे छोटे * सिक्ख राज्यों को विशाल सिक्ख राज्य के अंतर्गत करना चाहते थे, पर उनकी यह इच्छा ब्रिटिश राजदूत के कारण पूर्ण नहीं हुई। रणजीतसिंह चाहते थे कि उनके राज्य का विस्तार यमुना से लेकर सतलज के किनारे तक हो जाय। सभी स्वाधीन सिक्ख नरेश एक ही छत्र तले एकत्र हो जायँ। पर उनकी इच्छा मे ब्रिटिश राजदूत मेटकाफ के पहुँचने से बाधा उपस्थित हुई।

जब महाराज को ब्रिटिश राजदूत के आने का समाचार

महाराज ने कंपनी के एजेंट का धूमधाम से स्वागत किया। उन्होंने लाहौर से विदा होते समय उसको पाँच हज़ार रुपये की खिलत और अपने देश के बहुत से पदार्थ अंग्रेज कर्मचारियों के लिये भेंट किए थे।

* यह हम पहले कह आए हैं कि दिल्ली के रेज़ीडेंट के पास पटियाला के दीवान तथा झींद, कैथल प्रभृति के राजाओं का एक डेप्यूटेशन रणजीतसिंह के विरुद्ध सहायता लेने के लिये गया, परंतु रेज़ीडेंट ने कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। इसलिये इस समय पटियाला के राजा ने मेटकाफ से मुलाक़ात की। पटियाला, झींद और कैथल के राजाओं को मौखिक सूचना दी गई कि वे ब्रिटिश गवर्मेंट के अधीन राजा के नाम से गिने गए हैं।

मिला तब वे राजदूत से मिलने के लिये कसूर पहुँचे। * मिस्टर मेटकाफ ११ वीं सितंबर को कसूर पहुँचे, नगर से थोड़ी दूरी पर दीवान मोहकमचंद और सरदार फतहसिंह अलुवालिया ने दो हजार घुड़सवारों के साथ मिस्टर मेटकाफ का स्वागत किया। मेटकाफ साहब अंग्रेजी सरकार की ओर से महाराज साहब को भेंट करने के लिये एक अंग्रेजी गाड़ी, एक जोड़ी बढ़िया घोड़े, तीन हाथी सुनहले हौदों सहित, कुछ आभूषण और दुशाले लाए थे।

† किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है कि रणजीतसिंह ने मेटकाफ साहब से पूरी बातचीत भी नहीं की थी कि उन्होंने अचानक वहाँ से कूच कर के फरीदकोट पर धावा किया तथा अबाले और शाहाबाद को अपने अधीन कर लिया। वे मल्हेरकोटलेवालों से दो लाख रुपया भेंट (नजराना) देने के लिये लिखा हुआ वचन ले कर तथा थानेश्वर के महाराज से बलपूर्वक राजस्व कर लेकर और पटियाले के महाराज से पगड़ी बदल कर फुल्लौर/का घाट पार करते हुए अमृतसर पहुँच गए।

---

* कनीफ़ लिखता है कि कसूर जाने में महाराज रणजीतसिंह के दो उद्देश्य थे। एक तो सतलज के पार जाना, दूसरे ब्रिटिश राजदूत उनके मुख्य नगर लाहौर और अमृतसर को न देख सकें।

† कनिंगहम साहब ने लिखा है कि मेटकाफ साहब की बातचीत से रणजीतसिंह प्रसन्न नहीं हुए। अंग्रेज रणजीतसिंह की क्षमता सतलज किनारे स्थिर करना चाहते थे। यह सुनकर रणजीतसिंह नाराज हुए। शीघ्र ही संधि स्थापन के सब प्रकार के

मेटकाफ साहब ने संधिविषयक प्रस्ताव किया कि अंग्रेज सरकार चाहती है कि लाहौर दरबार की कोई सेना सतलज के पश्चिम किनारे न रहने पावे और सतलज के पश्चिम किनारे जो सब राज्य महाराज रणजीतसिंह के हाथ आए हैं, "वे सब उनके स्वामियों को लौटा दिए जाँय।" रणजीतसिंह मेटकाफ साहब के इस प्रस्ताव से सहमत हुए पर साथ ही उन्होंने यह

प्रस्ताव उठाकर उन्होंने सतलज के दक्षिणवर्त्ती प्रदेशों पर तीसरी बार आक्रमण किया। मूर क्राफट ने लिखा है कि अँग्रेजों को अपने संकल्प में बाधा देते हुए देख कर उन्होंने युद्ध की ठानी। जिन दो मनुष्यों ने उन्हें युद्ध न करने का परामर्श दिया था, उनमें महाराज के मुसलमान वजीर अजीजुद्दीन का नाम उल्लेख योग्य है। सर लेपिल ग्रीफन ने Rulers of India सीरीज़ की ग्रंथमाला की 'रणजीतसिंह' नामक पुस्तक में लिखा है—अमृतसर के पास नए दुर्ग गोविंदगढ़ में सेना और युद्ध की सामग्री इकट्ठी की गई। सिक्खों का सबसे अच्छा सेनापति मोहकमचंद जो अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन था काँगड़ा से बुला लिया गया और सतलज पर लुधियाना नगर के सामने फुल्लौर को भेजा गया, जहाँ उसने डेरा डाला था। रणजीतसिंह की ऐसी कार्य-प्रणाली देख कर गवर्नर-जनरल ने उस समय कर्नल अक्टरलोनी के साथ कुछ सेना लुधियाने को भेजी थी। इस सेना के भेजने का उद्देश्य यही था कि किसी तरह से मेटकाफ साहब के संधि विषयक प्रस्ताव को रणजीतसिंह स्वीकार कर लें। सरहिंद के सब सरदारों ने अक्टरलोनी का स्वागत किया था।

प्रस्ताव किया कि सरकार भी सतलज के उस पार रणजीतसिंह के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। सरकार ने रणजीतसिंह का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। बस इस भाँति लाहौर दरबार और अंग्रेजी सरकार की पारस्परिक संधि हुई। २५ वीं एप्रिल सन् १८०६ को यह संधि हुई और ३० वीं मई १८०९ को तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मिंटो ने संधिपत्र पर स्वीकृति की। * पहली मई को ब्रिटिश राजदूत मेटकाफ अमृ-

---

* लतीफ ने लिखा है कि—"जिस समय चार्ल्स मेटकाफ लुधियाने में थे, उस समय मुसलमानों ने ताजिये खूब धूमधाम से मनाए थे। जब शहर में हो कर ताजिये निकले तब फूलसिंह की अधीनता में अकालियों (सिक्खों में एक दल होता है, जो नीले वस्त्र पहनते हैं) ने ताजियों को खूब लूटा और उनमें आग लगा दी। रणजीतसिंह ने अकालियों को नाम मात्र का दंड दिया और इस पर खेद प्रकट किया। इस घटना का उल्लेख करके आगे लतीफ कहता है कि यह उत्पात केवल सिक्खों की धार्मिक उन्मत्तता के कारण हुआ था, इसका संबंध किसी राजनैतिक उद्देश्य से नहीं था, न महाराज रणजीतसिंह का इससे कुछ संबंध था। किंतु इस घटना से सैन-व्यवस्था की शिक्षा मिली और उस दिन से उन्होंने अपनी सेना में ब्रिटिश सेना के समान सैन्य-व्यवस्था सर्व प्रकार से प्रचलित की थी"। बंगभाषा के प्रसिद्ध लेखक बाबू रजनीकांत गुप्त ने अपनी पुस्तक "आर्यकीर्त्ति" में लिखा है कि जिस समय रणजीतसिंह अंगरेजों से संधि की बातचीत कर रहे थे, उस समय एक दिन

तसर से चल दिए। संधि हो जाने के पश्चात् लुधियाने में अकटरलोनी के अधीन अंग्रेजी सेना की छावनी नियत हुई।

फूलसिंह अकाली अपने हाथ में तलवार घुमाते हुए रणजीतसिंह के दरबार में पहुँचे और उसने उनको भरे दरबार में ललकार कर कहा—"महाराज ! विदेशी अंग्रेज हमारे राज्य में आ गए हैं, हमने उनके ऊपर चढ़ाई की थी, परंतु उन्होंने हमारी बड़ी दुर्दशा की है, अपमान किया है, हमारे अनुचरों को खदेड़ दिया है। यदि आप इसका बदला न लेंगे, यदि इसी समय विधर्मियों को उचित दंड न देंगे तो इस तलवार से आपके सहित आपके वंश के सब पुरुषों को कत्ल कर डालूँगा।" उन्होंने प्रेमभाव से गम्भीर स्वर से कहा—"भाई ! मै तुम्हारे साहस की प्रशंसा करता हूँ, परंतु अंग्रेजों के दूत से मैं मित्रभाव की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, इस कारण मित्र के अनिष्ट करने का विचार भी नहीं कर सकता हूँ। मैं गर्दन झुकाए देता हूँ, तुम खुशी से अपनी तलवार मेरी गर्दन पर चलाओ"। रणजीतसिंह की ऐसी बातों से फूलसिंह का उत्तेजित हृदय शांत हुआ। महाराज ने प्रसन्न होकर फूलसिंह को एक जोड़ी सोने के कड़े और उनके साथियों को यथोचित धन इनाम में दिया। इस पर फूलसिंह शांत हो गए। इन्हीं फूलसिंह ने नौशेरा के युद्ध में अद्भुत वीरता का परिचय दिया था। रणजीतसिंह को नौशेरा के युद्ध में फूलसिंह के कारण से विजय प्राप्त हुई थी और इसी युद्ध में फूलसिंह की मृत्यु हुई।

पटियाला का बख्शी नंदसिंह भंडारी महाराज रणजीतसिंह की ओर से ब्रिटिश जनरल के साथ राजदूत नियत हुआ। अंगरेज सरकार ने खुशवख्तराय नामक एक कायस्थ को लाहौर दरबार में अपनी ओर से संवाददाता (news-writer) नियुक्त किया। सन् १८०६ में महाराज ने अपनी सेना में युरोपियन ढंग की क़वायद (ड्रिल) प्रचलित की थी। फकीर अजीजउद्दीन का छोटा भाई नूरुद्दीन गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ।

संधि के निश्चय हो जाने पर कर्नल अक्टरलोनी ने एक घोषणा-पत्र इस आशय का प्रचारित किया कि सरहिंद और माळवा के सरदारों के राज्य ब्रिटिश सरकार के अधीन हैं। अब रणजीतसिंह उन राज्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे। किसी सरदार को किसी प्रकार का राज-कर नहीं देना पड़ेगा। जब कभी अंग्रेजी सरकार की सेना उनके राज्यों मे हो कर निकले, तब कोई सरकार किसी तरह का उत्पात न करे। युद्धादि के समय सब सरदार अंग्रेजी सरकार की विजय-पताका के नीचे उपस्थित होवें। विलायती वस्तुओं पर, जो लुधियाना छावनी में खर्च के लिये आया करें, कर न लगा करे और सरकारी घोड़ों पर जो सेना में भरती करने के लिये खरीदे जावें कर न लगाया जाय। बस इस भाँति पंजाब केसरी और ब्रिटिश गवर्नमेंट की संधि हुई।

अंग्रेजों से संधि करने के बाद महाराज रणजीतसिंह ने पंजाब प्रांत के उत्तर जिलों और अफगानिस्तान की ओर दृष्टि दौड़ाई। पहले उन्होंने अफगानों के पंजे से *मुलतान के निकालने की सोची। सन् १८१० के आरंभ में मुलतान पर

---

* इससे पहले सन् १८०२ और सन् १८०६ में रणजीतसिंह

तसर से चल दिए। संधि हो जाने के पश्चात् लुधियाने में अकटरलोनी के अधीन अंग्रेजी सेना की छावनी नियत हुई।

फूलसिंह अकाली अपने हाथ में तलवार घुमाते हुए रणजीतसिंह के दरबार में पहुँचे और उसने उनको भरे दरबार में ललकार कर कहा—"महाराज ! विदेशी अंग्रेज हमारे राज्य में आ गए हैं, हमने उनके ऊपर चढ़ाई की थी, परंतु उन्होंने हमारी बड़ी दुर्दशा की है, अपमान किया है, हमारे अनुचरों को खदेड़ दिया है। यदि आप इसका बदला न लेंगे, यदि इसी समय विधर्मियों को उचित दंड न देंगे तो इस तलवार से आपके सहित आपके वंश के सब पुरुषों को कतल कर डालूँगा।" उन्होंने प्रेमभाव से गम्भीर स्वर से कहा—"भाई ! मै तुम्हारे साहस की प्रशंसा करता हूँ, परंतु अंग्रेजों के दूत से मैं मित्रभाव की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, इस कारण मित्र के अनिष्ट करने का विचार भी नहीं कर सकता हूँ। मैं गर्दन झुकाए देता हूँ, तुम खुशी से अपनी तलवार मेरी गर्दन पर चलाओ"। रणजीतसिंह की ऐसी बातों से फूलसिंह का उत्तेजित हृदय शांत हुआ। महाराज ने प्रसन्न होकर फूलसिंह को एक जोड़ी सोने के कड़े और उनके साथियों को यथोचित धन इनाम में दिया। इस पर फूलसिंह शांत हो गए। इन्हीं फूलसिंह ने नौशेरा के युद्ध में अद्भुत वीरता का परिचय दिया था। रणजीतसिंह को नौशेरा के युद्ध में फूलसिंह के कारण से विजय प्राप्त हुई थी और इसी युद्ध में फूलसिंह की मृत्यु हुई।

पटियाला का बख्शी नंदसिंह भंडारी महाराज रणजीतसिंह की ओर से ब्रिटिश जनरल के साथ राजदूत नियत हुआ। अंगरेज सरकार ने खुशवख्तराय नामक एक कायस्थ को लाहौर दरबार में अपनी ओर से संवाददाता (news-writer) नियुक्त किया। सन् १८०६ में महाराज ने अपनी सेना मे युरोपियन ढंग की क़वायद (ड्रिल) प्रचलित की थी। फकीर अजीजउद्दीन का छोटा भाई नूरुद्दीन गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ।

संधि के निश्चय हो जाने पर कर्नल अक्टरलोनी ने एक घोषणा-पत्र इस आशय का प्रचारित किया कि सरहिंद और मालवा के सरदारों के राज्य ब्रिटिश सरकार के अधीन हैं। अब रणजीतसिंह उन राज्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे। किसी सरदार को किसी प्रकार का राज-कर नहीं देना पड़ेगा। जब कभी अंग्रेजी सरकार की सेना उनके राज्यों में हो कर निकले, तब कोई सरकार किसी तरह का उत्पात न करे। युद्धादि के समय सब सरदार अंग्रेजी सरकार की विजय-पताका के नीचे उपस्थित होवें। विलायती वस्तुओं पर, जो लुधियाना छावनी में खर्च के लिये आया करें, कर न लगा करे और सरकारी घोड़ों पर जो सेना में भरती करने के लिये खरीदे जावें कर न लगाया जाय। बस इस भाँति पंजाब केसरी और ब्रिटिश गवर्नमेंट की संधि हुई।

अंग्रेजों से संधि करने के बाद महाराज रणजीतसिंह ने पंजाब प्रांत के उत्तर जिलों और अफगानिस्तान की ओर दृष्टि दौड़ाई। पहले उन्होंने अफगानों के पंजे से * मुलतान के निकालने की सोची। सन् १८१० के आरंभ मे मुलतान पर

---

* इससे पहले सन् १८०२ और सन् १८०६ में रणजीतसिंह

आक्रमण करने के लिये पंजाब केसरी ने कूच किया। • खुशाब के पास उनकी काबुल के शाह सूजा से भेंट हुई। शाह सूजा ने चाहा था कि सिक्ख मुलतान को लेकर मुझे दे दें। रणजीत-सिंह ने दुर्बल हृदय शाह सूजा के प्रति अच्छा व्यवहार किया पर उसने रुपए पाने की कुछ आशा न देख कर २४ वीं फरवरी सन् १८१० को उनकी सेना किले की दीवाल के सामने पहुँच गई और दूसरे दिन उसने शहर पर कब्जा कर लिया।

मुलतान पर आक्रमण कर चुके थे। दोनों बार मुलतान के नवाब मुजफ्फर खाँ ने बहुत सा रुपया देकर रणजीतसिंह से पीछा छुड़ाया था। कहते हैं कि मुलतान के नवाब ने अंग्रेजों से अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना की थी, पर उन्होंने नवाब को अपनी शरण में आश्रय देना स्वीकार नहीं किया।

• इसी समय सन् १८१० के आरम में फ्रांस और ईरान के आक्रमण की आशंका से उनका मार्ग रोकने के लिये मिस्टर एलफिंस्टन ने काबुल के अमीर शाह सूजा से संधि कर ली थी। इस संधि के बाद ही शाह सूजा का भाई उसको राजसिंहासन पर से उतार कर स्वयं गद्दी पर बैठा। शाह सूजा कई स्थानों में अपने भाग्य की परीक्षा करते रहे। रणजीतसिंह उस समय भुजियाबाद में थे, क्योंकि वहाँ के सिक्ख सरदार का उन दिनों देहान्त हुआ था। कनिंगहम लिखता है—"महाराज चाहते थे कि मृत सरदार का परिवारवर्ग अलग किया जाय और वे स्वयं उस स्थान को अपने अधिकार में ले लेवें। उसी समय उनको शाह सूजा के आगमन का समाचार मिला। शाह सूजा को पक्का विश्वास

मुलतान दुर्ग पर तोपें दाग दी गईं। दुर्ग तक पहुँचने के लिये खाई खोदी गई। पर किले के घिरे व्यक्तियों ने भी अपनी अपूर्व वीरता का परिचय दिया। उन्होंने अत्तारसिंह धारी की पलटन उड़ा दी जिसमें वह स्वयं और उसके बारह-आदमी मारे गए। सिक्खों को पीछे हटना पड़ा। सेनापति दीवान मोहकमचंद अत्यंत अस्वस्थ हो गया और भी कई सिक्ख सरदार भूतलशायी हो गए। यह दशा देख कर महाराज ने मुलतान के नवाव मुजफ्फर खाँ से ढाई लाख रुपया और बीस लड़ाई के घोड़े लेना स्वीकार किया, जिसमें से उसी समय तीन हजार रुपया महाराज रणजीतसिंह ने नक़द लेकर १४ वीं अप्रैल को मुलतान से कूच किया।

कई देशी और विदेशी इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि मुलतान के दुर्ग पर विजय प्राप्त करने को अपनी शक्ति न देख कर रणजीतसिंह ने अंग्रेजों से मुलतान पर आक्रमण करने के लिये सहायता की प्रार्थना की थी पर अंग्रेजों ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। उन्होंने रणजीतसिंह को कोरा जवाब दिया कि हम बिना किसी छेड़ छाड़ के पहले किसी देश पर आक्रमण

न होने पर भी यह आशा थी कि कोई न कोई मित्र-राज्य उनकी सहायता करेगा। शाह जमान से रणजीतसिंह ने लाहौर नगर दान स्वरूप पाया। इस समय उनको वह याद आया। रणजीतसिंह ने कहा—"हिन्दुस्तान की ओर अधिक दूर बढ़ने से सम्राट को बहुत कष्ट होगा, इसलिये उनका कष्ट मिटाने के लिये हम स्वयं आगे बढ़े। रणजीतसिंह मुलतान और काश्मीर के पुनरुद्धार का दम दिलासा देकर भूतपूर्व अमीर का दिल बहलाने लगे।

नहीं करते हैं। नहीं जानते कि वास्तव में रणजीतसिंह मुलतान के दुर्ग पर अपनी विजय पताका फहराने में असमर्थ थे अथवा और किसी कारणवश इतिहास-लेखकों ने रणजीतसिंह की असमर्थता प्रकट करने की चेष्टा की है। जो कुछ हो मुजफ्फ़र खाँ के रुपया भेजने में देरी के कारण सन् १८१६ में फूलसिंह अकाली ने फिर मुलतान पर आक्रमण किया। सिक्खों की एक बड़ी भारी सेना बहावलपुर और मुलतान को राज कर उगाहने के लिये गई। फूलसिंह अकाली ने दुर्ग के कुछ बाहरी भागों पर अधिकार कर लिया था, किंतु नवाब ने शीघ्र ही रुपया दे दिया, जिससे सिक्ख सेना वहाँ से हट गई। सन् १८१७ में दीवान चंद के अधीन सिक्ख सेना ने मुलतान के दुर्ग पर आक्रमण किया पर सिक्ख सेना को सफलता प्राप्त नहीं हुई। नवाब से दस हजार रुपया लेकर सिक्ख सेना लौट आई। इसके पश्चात् सन् १८१८ के जनवरी मास में राजकुमार खड्गसिंह के नेतृत्व में सिक्ख सेना ने, जिसके सेनापति दीवानचंद थे, लाहौर से कूच किया। मुलतान जाते समय सिक्ख सेना ने, कानगढ़ और मुजफ्फ़रगढ़ के किले ले लिए थे। * नवाब की सेना ने भी अपनी अपूर्व वीरता का परिचय दिया।

---

* सर लेपिल ग्रिफिन ने Rulers of India नामक पुस्तक माला की "Ranjit Singh" 'रणजीतसिंह' नामक पुस्तक में लिखा है —"सिक्खों की सेना में १८ हजार आदमी थे और नवाब के केवल दो हजार मनुष्य थे। दुर्ग की सेना ने ऐसी वीरता का परिचय दिया, जो सिक्खों ने पहले कभी नहीं देखा था"।

सिक्खों के लगातार आक्रमण से नवाब के भी दम ढीले हो गए थे। * अंत में २ जून के घमासान युद्ध के पश्चात् मुल-

---

* सर लेपिल ग्रिफिन साहब ने "Rulers of India" नामक पुस्तकमाला की "रणजीतसिंह" पुस्तक में लिखा है— दूसरी जून को सिक्ख सेना ने मुलतान दुर्ग पर गोले दागे, भंगी तोप से किले की दीवालों में दो बड़े बड़े छेद हो गए। एक आक्रमण में सिक्ख पीछे हटा दिए गए और उनके अठारह सौ मनुष्य हताहत हुए। दुर्ग के रक्षक मुजफ्फरखाँ के साथी केवल दो तीन सौ ही रह गए थे, जिनमें से अधिकांश नवाब की जाति और कुटुंब के थे। नवाब की सेना के बहुत से आदमी मारे गए और कुछ शत्रु से जा मिले क्योंकि उनको छोड़ने के लिये रिश्वत दी गई थी। नहीं जानते कि सर लेपिल ग्रिफिन साहब का यह कथन कहाँ तक सच है? उक्त साहब बहादुर ने और भी लिखा है— "महाराज रणजीतसिंह ने यात्री मुर क्राफर्ड से कहा था कि अंतिम समय दुर्ग में पाँच सौ आदमी थे, परंतु यह मिथ्या है। अंतिम आक्रमण के समय दुर्ग में केवल तीन सौ आदमी थे, जिनमें बहुत से दुर्ग के टूटते समय मारे गए"। नहीं जानते कि सर लेपिल ग्रिफिन साहब का यह कथन कहाँ तक सत्य है, पर इसमें संदेह नहीं कि रणजीतसिंह को मुल्तान दुर्ग की विजय अवश्य महँगी पड़ी थी। कहते हैं कि रणजीतसिंह को मुल्तान से जितनी दौलत की आशा थी उतनी हाथ नहीं लगी।

तान का दुर्ग सिक्खों के हाथ आया। साधुसिंह नामक अकाली संप्रदाय के एक पुरुष सिक्खों की ओर सेर मुलतान के युद्ध में गये थे। उनके ही आकस्मिक आक्रमण से सिक्ख सेना मुलतान के दुर्ग पर अपनी विजयपताका फहराने में समर्थ हुई थी। लगातार चार महीने के आक्रमण से दुर्ग का वाहरी भाग टूट गया और उसी में से सिक्ख सेना ने दुर्ग में प्रवेश किया। इस आक्रमण में मुजफ्फर खाँ और उसके दो पुत्र मारे गए और दो कैद हुए। सेना ने भी बहुत द्रव्य लूटा, पर महाराजा की आशा अनुरूप संपत्ति प्राप्त नहीं हुई।

इससे पहले ही सन् १८११ में महाराज रणजीतसिंह की दृष्टि काश्मीर पर पड़ी थी, पहले उन्होंने वहाँ के पहाड़ी राज्य बिमगार और राजोरी की, जो राजपूत वंश के मुसलमानों के आधिपत्य में थे, शक्ति घटाई। दूसरे वर्ष उन्होंने कूलू पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। इस बीच में उन्होंने काबुल के शाह मुहम्मद के मन्त्री फतेह खाँ से मित्रता कर ली थी जिसने काश्मीर पर चढ़ाई करने और वहाँ के शासक अता मुहम्मद खाँ को हटाने के विचार से सिंधु नद पार किया था *। इसी वर्ष

---

* सन् १८१२ में कुँवर खड्गसिंह का विवाह महाराज रणजीतसिंह ने बड़ी धूमधाम से किया था। लुधियाने से सर डेविड अक्टरलोनी भी पहुँचे थे। अक्टरलोनी के साथ नाभा, झींद और कैथल के राजा भी पहुँचे थे। सिपाहियों की डेढ कपनी और एक तोप हार्स आर्टिलरी जनरल अक्टरलोनी साहब के साथ थी। रणजीतसिंह ने अक्टरलोनी साहब का बहुत धूमधाम से स्वागत किया। दीवान मोहकमचंद और सरदार फतेहसिंह आह-

जहाँदात खाँ आफ़गानी से अटक का दुर्ग रणजीतसिंह के हाथ लगा और रणजीतसिंह की सेना फतेहखाँ के साथ काश्मीर गई। महाराज और फतेह खाँ दोनों के मन में एक दूसरे से कपटता थी। महाराज और वजीर दोनों ही आपस मे एक दूसरे को अपने हाथ की कठपुतली बनाना चाहते थे। दोनों ही अपने अपने घात में लगे हुए थे, परंतु दोनों की इष्टसिद्धि नहीं हुई। सन् १८१३ ई० के फरवरी मास में काश्मीर अधिकृत हुआ। सिक्ख सेना मोहकमचंद के अधीन थी, जिनको काश्मीर की लूट का तीसरा भाग मिलनेवाला था। मोहकमचंद झेलम से फतेह खाँ के साथ चला। किंतु जब पीरपजाल पर्वतमाला पर सेना पहुँची तब फतेह खाँ ने एक चाल चली। सिक्खों को पर्वत पर बर्फ में बहुत जल्दी चलने का विशेष अभ्यास नहीं था, इसलिये उसने मोहकमचंद को बिना किसी प्रकार की सूचना दिए अपने पहाड़ी रिसालों से दुगुनी चाल (डबल मार्च) से चलने को कह दिया। सिक्ख लोग बर्फ बहुत गिरने के कारण अफ़ग़ानों का पीछा नहीं कर सके। दीवान मोहकमचंद फतेह खाँ की यह चालाकी पहिचान गए। उन्होंने राजोरी के सरदार को पचीस हजार की जागीर इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि यदि वह काश्मीर का वह मार्ग

इसलिये महाराज की ओर से उक्त साहब बहादुर का स्वागत करने के लिये बहुत दूर तक गए थे और स्वयं महाराज अक्टरलोनी के स्वागत के लिये आधी मील तक गए थे। विवाह के पीछे महाराज अक्टरलोनी को अपने साथ लाहोर ले गए। कन्हैया सरदार ने पहले दिन मेहमानों की जाफत में पंद्रह हजार रुपए फतेगढ़ में खर्च के किए थे और जब तक रणजीतसिंह रहे वह बराबर पंद्रह हजार रुपए देता रहा।

तान का दुर्ग सिक्खों के हाथ आया। साधुसिंह नामक अकाली संप्रदाय के एक पुरुष सिक्खों की ओर सेर मुलतान के युद्ध में गये थे। उनके ही आकस्मिक आक्रमण से सिक्ख सेना मुलतान के दुर्ग पर अपनी विजयपताका फहराने में समर्थ हुई थी। लगातार चार महीने के आक्रमण से दुर्ग का बाहरी भाग टूट गया और उसी में से सिक्ख सेना ने दुर्ग में प्रवेश किया। इस आक्रमण में मुज़फ्फ़र खाँ और उसके दो पुत्र मारे गए और दो कैद हुए। सेना ने भी बहुत द्रव्य लूटा, पर महाराजा की आशा अनुरूप संपत्ति प्राप्त नहीं हुई।

इससे पहले ही सन् १८११ में महाराज रणजीतसिंह की दृष्टि काश्मीर पर पड़ी थी, पहले उन्होंने वहाँ के पहाड़ी राज्य बिमगार और राजोरी की, जो राजपूत वंश के मुसलमानों के आधिपत्य में थे, शक्ति घटाई। दूसरे वर्ष उन्होंने कूलू पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। इस बीच में उन्होंने काबुल के शाह मुहम्मद के मंत्री फतेह खाँ से मित्रता कर ली थी जिसने काश्मीर पर चढ़ाई करने और वहाँ के शासक अता मुहम्मद खाँ को हटाने के विचार से सिंधु नद पार किया था *। इसी वर्ष

* सन् १८१२ में कुँवर खड्गसिंह का विवाह महाराज रणजीतसिंह ने बड़ी धूमधाम से किया था। लुधियाने से सर डेविड अक्टरलोनी भी पहुँचे थे। अक्टरलोनी के साथ नाभा, झींद और कैथल के राजा भी पहुँचे थे। सिपाहियों की डेढ़ कंपनी और एक तोप हार्स आर्टिलरी जनरल अक्टरलोनी साहब के साथ थी। रणजीतसिंह ने अक्टरलोनी साहब का बहुत धूमधाम से स्वागत किया। दीवान मोहकमचंद और सरदार फतेहसिंह आह-

था। वह दीवान मोहकमचंद के साथ लाहौर लाया गया। फतेह खाँ के इस व्यवहार से महाराज रणजीतसिंह संतुष्ट नहीं

'रणजीतसिंह' पुस्तक में लिखा है—"जब शाह भूखों मरने लगा, तब लाचार होकर उसने हीरा देना इस शर्त पर स्वीकार किया कि महाराज उससे सदैव मित्रता निवाहें और उसकी रक्षा करें।" महाराज ने "आदिग्रंथ" की शपथ इस मित्रता के निवाहने की खाई। हीरा लेने पर बात भी नहीं की। उक्त साहब बहादुर आगे लिखते हैं कि—रणजीतसिंह ने शाह सूजा के और भी बहुत से बहुमूल्य रत्न छीन लिए। सिक्ख लेखकों ने लिखा है—"शाह की बेगम ने रणजीतसिंह को लिखा था कि यदि आप मेरे पति की रक्षा करें और पेशावर के शासक फतेह खाँ को उसे न सौंपें तो मैं कोहनूर हीरा दूँ।" लतीफ ने कोहनूर हीरे के छीने जाने का वृत्तांत बड़ी रँगीली भाषा में लिखा है जिसका सारांश यह है कि—रणजीतसिंह ने शाह को अत्यंत पाशविक यंत्रणाएँ कोहनूर के लिये दी थीं। रणजीतसिंह के शाह से कोहनूर हीरा छीनने के समान ही कोहनूर का भी बड़ा मनोरंजक वृत्तांत है। कहते हैं कि महाभारत के समय यह हीरा राजा कर्ण के पास था। कोई कोई कहते हैं कि कोहनूर हीरा काल्लूर की खान में, जो मछली बंदर से चार मंजिल उत्तर और पश्चिम की तरफ हैदराबाद की अमलदारी में गोदावरी नदी के किनारे पर है, निकला था और मीरजुमला ने जो पहले गोलकुंडे के बादशाह का सिपहसालार था और पीछे से आलमगीर

बतला दे जिससे उसकी सेना फतह खाँ के पहुँचने के समय तक काश्मीर पहुँच जाय। उसने जोधसिंह कालसिया और निहालसिंह अत्तारी के अधीन कुछ सेना भेजने की चेष्टा भी की थी। बस इस भाँति उसने शेरगढ़ी और हरी पर्वत को घेर लिया। वहाँ का शासक भाग गया, फतेह खाँ ने कहा कि सिक्ख लोग लूट का भाग पाने के अधिकारी नहीं हैं। उस समय * काबुल का पूर्व सम्राट् शाह सूजा काश्मीर में बंदी

---

* कहते हैं कि महाराज रणजीतसिंह ने शाह सूजा से जग-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा छीन लिया था। पहले लाहौर में रणजीत-सिंह ने हीरा माँगा था। शाह ने बहाना बना दिया कि वह कंधार के एक महाजन के यहाँ गिरो है। रणजीतसिंह यह बात ताड़ गए कि शाह का यह बहाना है। रणजीतसिंह ने शाह के महलों पर कड़ा पहरा बैठा दिया और यहाँ तक प्रबंध कर दिया कि बिना तलाशी लिये कोई आने जाने न पावे। किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है कि उन्होंने शाह के महल में खाने पीने के पदार्थ भी आने जाने बंद करवा दिए और भी अनेक प्रकार की यंत्रणाएँ दे कर, आखिर में हीरा ले कर रणजीतसिंह ने शाह का पीछा छोड़ा। स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने लिखा है कि शाह सूजा को कष्ट देने के लिये रणजीतसिंह ने शाह के नाम से फतह खाँ और कुछ दूसरे दुर्रानियों के नाम से ऐसे जाली पत्र भी बनाए थे जिनमें लिखा था कि हमको रणजीतसिंह बहुत दिक करते हैं। सर लेपिल ग्रिफिन ने "Rulers of India" पुस्तकमाला की

था। वह दीवान मोहकमचंद के साथ लाहौर लाया गया। फतेह खाँ के इस व्यवहार से महाराज रणजीतसिंह संतुष्ट नहीं

'रणजीतसिंह' पुस्तक में लिखा है—"जब शाह भूखों मरने लगा, तब लाचार होकर उसने हीरा देना इस शर्त पर स्वीकार किया कि महाराज उससे सदैव मित्रता निबाहें और उसकी रक्षा करें।" महाराज ने "आदिग्रंथ" की शपथ इस मित्रता के निबाहने की खाई। हीरा लेने पर बात भी नहीं की। उक्त साहब बहादुर आगे लिखते हैं कि—रणजीतसिंह ने शाह सूजा के और भी बहुत से बहुमूल्य रत्न छीन लिए। सिक्ख लेखकों ने लिखा है—"शाह की बेगम ने रणजीतसिंह को लिखा था कि यदि आप मेरे पति की रक्षा करें और पेशावर के शासक फतेह खाँ को उसे न सौंपें तो मैं कोहनूर हीरा दूँ।" लतीफ ने कोहनूर हीरे के छीने जाने का वृत्तांत बड़ी रँगीली भाषा में लिखा है जिसका सारांश यह है कि—रणजीतसिंह ने शाह को अत्यंत पाशविक यंत्रणाएँ कोहनूर के लिये दी थीं। रणजीतसिंह के शाह से कोहनूर हीरा छीनने के समान ही कोहनूर का भी बड़ा मनोरंजक वृत्तांत है। कहते हैं कि महाभारत के समय यह हीरा राजा कर्ण के पास था। कोई कोई कहते हैं कि कोहनूर हीरा काल्लूर की खान में, जो मछली बंदर से चार मंजिल उत्तर और पश्चिम की तरफ हैदराबाद की अमलदारी में गोदावरी नदी के किनारे पर है, निकला था और मीरजुमला ने जो पहले गोलकुंडे के बादशाह का सिपहसालार था और पीछे से आलमगीर

बतला दे जिससे उसकी सेना फतह खाँ के पहुँचने के समय तक काश्मीर पहुँच जाय। उसने जोधसिंह कालसिया और निहालसिंह अटारी के अधीन कुछ सेना भेजने की चेष्टा भी की थी। बस इस भाँति उसने शेरगढ़ी और हरी पर्वत को घेर लिया। वहाँ का शासक भाग गया, फतेह खाँ ने कहा कि सिक्ख लोग लूट का भाग पाने के अधिकारी नहीं हैं। उस समय * काबुल का पूर्व सम्राट् शाह सूजा काश्मीर में बंदी

* कहते हैं कि महाराज रणजीतसिंह ने शाह सूजा से जग-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा छीन लिया था। पहले लाहौर में रणजीत-सिंह ने हीरा माँगा था। शाह ने बहाना बना दिया कि वह कंधार के एक महाजन के यहाँ गिरो है। रणजीतसिंह यह बात ताड़ गए कि शाह का यह बहाना है। रणजीतसिंह ने शाह के महलों पर कड़ा पहरा बैठा दिया और यहाँ तक प्रबंध कर दिया कि बिना तलाशी लिये कोई आने जाने न पावे। किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है कि उन्होंने शाह के महल में खाने पीने के पदार्थ भी आने जाने बंद करवा दिए और भी अनेक प्रकार की यंत्रणाएँ दे कर, आखिर में हीरा ले कर रणजीतसिंह ने शाह का पीछा छोड़ा। स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने लिखा है कि शाह सूजा को कष्ट देने के लिये रणजीतसिंह ने शाह के नाम से फ़तह खाँ और कुछ दूसरे दुर्रानियों के नाम से ऐसे जाली पत्र भी बनाए थे जिनमें लिखा था कि हमको रणजीतसिंह बहुत दिक करते हैं। सर लेपिल ग्रिफिन ने "Rulers of India" पुस्तकमाला की

था। वह दीवान मोहकमचंद के साथ लाहौर लाया गया। फतेह खाँ के इस व्यवहार से महाराज रणजीतसिंह संतुष्ट नहीं

'रणजीतसिंह' पुस्तक में लिखा है—"जब शाह भूखों मरने लगा, तब लाचार होकर उसने हीरा देना इस शर्त पर स्वीकार किया कि महाराज उससे सदैव मित्रता निबाहें और उसकी रक्षा करें।" महाराज ने "आदिग्रंथ" की शपथ इस मित्रता के निबाहने की खाई। हीरा लेने पर बात भी नहीं की। उक्त साहब बहादुर आगे लिखते हैं कि—रणजीतसिंह ने शाह सूजा के और भी बहुत से बहुमूल्य रत्न छीन लिए। सिक्ख लेखकों ने लिखा है—"शाह की बेगम ने रणजीतसिंह को लिखा था कि यदि आप मेरे पति की रक्षा करें और पेशावर के शासक फतेह खाँ को उसे न सौंपें तो मैं कोहनूर हीरा दूँ।" लतीफ ने कोहनूर हीरे के छीने जाने का वृत्तांत बड़ी रँगीली भाषा में लिखा है जिसका सारांश यह है कि—रणजीतसिंह ने शाह को अत्यंत पाशविक यत्रणाएँ कोहनूर के लिये दी थीं। रणजीतसिंह के शाह से कोहनूर हीरा छीनने के समान ही कोहनूर का भी बड़ा मनोरंजक वृत्तांत है। कहते हैं कि महाभारत के समय यह हीरा राजा कर्ण के पास था। कोई कोई कहते हैं कि कोहनूर हीरा काल्लूर की खान में, जो मछली बंदर से चार मंजिल उत्तर और पश्चिम की तरफ हैदराबाद की अमलदारी में गोदावरी नदी के किनारे पर है, निकला था और मीरजुमला ने जो पहले गोलकुंडे के बादशाह का सिपहसालार था और पीछे से आलमगीर

हुए; पर उन्होंने फतेह खाँ की इस कपटभरी नीति के कारण काश्मीर पर अपनी विजय पताका फहराने का विचार परित्याग नहीं किया। वे उन लोगों में से नहीं थे, जो विघ्न-बाधाओं से घबड़ा कर पीछे हट जाते हैं। इसलिये उन्होंने काश्मीर पर फिर चढ़ाई करने की ठानी। उन्होंने काश्मीर के पूर्व शासक के भ्राता जहाँदाद खाँ से, जिसके अधीन उस समय अटक का दुर्ग था, संधि की बात-चीत आरंभ की। उन्होंने सिक्ख सेना को अटक का दुर्ग देने के लिये अनुरोध किया। इस पर फतेह ख़ाँ कुछ क्रोधित हुआ। उसने दुर्ग रणजीतसिंह से माँगा। महाराज रणजीतसिंह ने उत्तर दिया कि जब तक काश्मीर की लूट का भाग मुझे नहीं मिलेगा तब तक अटक का किला नहीं दूँगा। इस उत्तर को सुन कर अप्रैल सन् १८१३ में अपने भाई जाजीम खाँ की अधीनता में काश्मीर को छोड़ कर फ़तेह खाँ ने अटक पर आक्रमण किया। लाहौर से भी सिक्ख सेना मोहकमचंद की अध्यक्षता में फतेह खाँ के मुकाबले में आ डटी। दोनों सेनाओं मे घमासान युद्ध ठन गया। इस युद्ध में सिक्खों को बहुत कुछ कष्ट उठाना पड़ा। दुर्ग के भीतर सेना की भोजनादि की सामग्री निपट गई। उसको इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं रहा कि वह दुर्ग

औरंगजेब का वजीर और सिपहसालार हो गया उसे शाहजहाँ बादशाह को भेंट किया था। शाहजहाँ ने हीरे को अपने तख्त ताऊस में जड़ाया। नादिरशाह उसको ईरान ले गया। उसके मरने पर वह अहमद शाह के हाथ लगा। अहमदशाह के वंशधरों से रणजीतसिंह ने लिया।

को छोड़ दे। यह दशा देख कर दीवान ने लड़ने की ठान ली और उसने उसी निमित्त अपनी सेना की व्यवस्था की।

दोस्त मुहम्मद खाँ ने, जो पीछे काबुल का शासक हुआ था, उस सिक्ख सेना के एक व्यूह को तोड़ दिया। सिक्खों की कुछ तोपें भी अफगानों के हाथ लगीं। अफगान अपनी जीत समझ कर तितर बितर हो गए और उन्होंने लूट खसोट आरंभ कर दी। दीवान मोहकमचंद ने अपनी सेना लेकर शत्रुओं पर पुनः आक्रमण किया। इस बार के आक्रमण के आगे शत्रु ठहर नहीं सके। फतेह खाँ और अफगान खाँ भाग गए। अटक के युद्ध में फतेह खाँ की जो बदनामी हुई थी उसको दूर करने के लिये * हिरात पर चढ़ाई की गई। दूसरे वर्ष महाराज ने काश्मीर पर फिर चढ़ाई की। उस समय दीवान मोहकमचंद

---

* हिरात के नाम मात्र के शासनकर्त्ता महमूद के पुत्र कामरान द्वारा काबुल का वजीर फतह खाँ मारा गया। कहते हैं, दोस्त मुहम्मद ने कुछ नृशंसता का व्यवहार किया। राजवंशीय रमणी के अंग से गहने उतारते समय सिपाहियों ने रमणी का अंग स्पर्श किया। कामरान ने अपनी बहिन का ऐसा अपमान देख कर अपने वैरी के हाथ से मुक्ति पाने का यह अच्छा अवसर समझा। पहले उसने फतह खाँ की दोनों आँखें निकालीं। पीछे उसका वध किया। वस्तुतः इस पापाचरण से अहमद शाह के उत्तराधिकारियों ने फिर हिरात पाया सही लेकिन बहुत दिनों तक हिरात का शासन उनके हाथ में नहीं रहा। थोड़े दिनों के बाद हिरात उनके हाथों से निकल गया। (कनिंगहम)

बीमार थे और वे थोड़े दिन पीछे ही मर गए। उन्होंने महाराज को काश्मीर पर चढ़ाई न करने की सलाह दी थी परंतु महाराज ने उनकी सम्मति नहीं मानी। * उन्होंने सेना के एक भाग को अपनी अधीनता में और दूसरे भाग को दीवान मोहकमचंद के पोते दीवान रामदयाल की अधीनता में, जो इससे पहले कई युद्धों में अपनी वीरता का परिचय दे चुके थे, रख कर काश्मीर पर चढ़ाई की, परन्तु राजोरी के राजा अगर खाँ के विश्वासघात से इस आक्रमण में महाराज को सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उसने रणजीतसिंह को सलाह दी कि आधी सेना, महाराज की अधीनता को पीर पजाल के मार्ग से कूच करे और रामदयाल की अधीनस्थ सेना बारहमूला से रवाना हो। इस तरह से दो मार्गों से सेना के जाने से सेना का एक भाग दूसरे भाग की सहायता नहीं कर सका। काश्मीर के शासक ने रामदयाल की सेना पर भीषण आक्रमण किया। रामदयाल और उसके साथी बड़ी वीरता से लड़े पर सेना थोड़ी होने और शत्रुसैन्य की अधिकता के कारण उन्हें विजय प्राप्त न हो सकी। ऋतु भी महाराज रणजीतसिंह के अनुकूल न थी। मूसलधार वर्षा होने लगी। पहाड़ी राजाओं ने भी पीछे से सर उठा लिया। इसलिये उनको दमन करते हुए रणजीतसिंह लाहौर लौटे। इस आक्रमण में उनको विशेष क्षति हुई और उन्हें बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रामदयाल को अपने भाग्य के भरोसे रहना पड़ा, परंतु उसने अपने ऐसे

* सर लेपिल ग्रिफिन साहब का कथन है—"रणजीतसिंह ने समझा था कि उस समय काश्मीर में फतेह खाँ नहीं था। इसलिये उन्हें यह आशा हुई कि काश्मीर सुगमता से हाथ में आ जायगा"।

अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया कि काश्मीर के शासक अजीमखाँ को यह संधि करनी पड़ी कि वह रामदयाल को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचावेगा और उनको पंजाब सकुशल पहुँच जाने देगा"। थोड़े दिन पीछे रामदयाल की सेना भी लाहौर पहुँच गई।

यद्यपि इस आक्रमण में रणजीतसिंह को विशेष क्षति हुई तथापि वे निराश नहीं हुए। सन १८१९ में उन्होंने काश्मीर पर फिर चढ़ाई की। पहले उन्होंने राजोरी के राजा से विश्वास-घात का बदला लिया। उसके नगर और महल मे आग लगा दी। उस समय काबुल और हिरात मे अफगानों के बीच मे बड़े बड़े उत्पात मच रहे थे। इसलिये वजीर फतेहखाँ और काश्मीर का शासक उसका छोटा भाई अजीमखाँ वहाँ गए हुए थे। उनका प्रतिनिधि जाबर खाँ सिक्खों के मुकाबले में ठहर नहीं सका। वह पहाड़ों में भाग गया। महाराज रणजीतसिंह के हाथ भू-स्वर्ग काश्मीर आया।* सिक्खों की विजयपताका काश्मीर पर फहराने लगी। दीवान मोहकमचंद का पुत्र, रामदयाल का पिता मोतीराम काश्मीर का शासक नियुक्त हुआ। कहते हैं, महाराज रणजीतसिंह ने काश्मीर पर विजय प्राप्त करके बड़ा भारी आनंद मनाया था। काश्मीरविजय के हर्ष के उपलक्ष्य में कई दिन तक लाहौर और अमृतसर में दीपावली होती रही।

---

* कनिंगहम साहब लिखते हैं—"पहले अफगानों ने आक्रमणकारियों को विताड़ित कर दो तोपें छीन लीं। लेकिन वे लोग अधिक कृतकार्य्य नहीं हो सके। इसलिये सिक्खों ने पुनः आक्रमण कर के बिना रक्तपात के युद्ध में विजय लाभ की।"

काश्मीर पर अधिकार प्राप्त करने के कई महीने पश्चात् रणजीतसिंह स्वयं पंजाब के दक्षिण प्रदेश में गए और उन्होंने काबुल के अन्यतम उपनिवेश सिंधु तीरवर्त्ती डेरागाजीखाँ को अपने अधीन किया।

बस इसी भाँति रणजीतसिंह का भाग्य चमकने लगा। * डेरागाजीखाँ पर अपनी विजय-पताका फहराने के बाद उन्होंने मनखेरा के नवाब हाफिज अहमद खाँ का समस्त राज्य अपने अधीन कर लिया। इस समय रणजीतसिंह का नाम दूर दूर तक हो गया था। भारतवर्ष में ही नहीं, भारतवर्ष से बाहर विदेशों में भी रणजीतसिंह के दरबार की चर्चा चलती थी। समय समय पर अनेक विदेशी यात्रियों ने रणजीतसिंह से परिचय लाभ किया था। किसी किसी इतिहास-लेखक ने लिखा है कि रणजीतसिंह विदेशियों से बड़े चौकन्ने रहते थे। पर चाहे रणजीतसिंह चौकन्ने रहते हों अथवा नहीं, समय-समय पर कितने ही विदेशी उनके दरबार की बहार देखने गए थे, जिनमें से सन् १८२० में परिव्राजक मूर क्राफ्ट साहब पहुँचे थे। मूर क्राफ्ट साहब ईस्ट इंडिया कंपनी के सुपरिंटेंडेंट होकर आए थे। वे लंकाशायर के रहनेवाले थे और उन्होंने लिवरपुल में शिक्षा

---

* सन् १८२० में युवराज खड्गसिंह को पुत्र हुआ, जो पीछे कुँवर नौनिहालसिंह के नाम से विख्यात हुआ। इसी वर्ष सन् १८२० में अंग्रेजों की कैद से भागकर नागपुर के अप्पासाहब अमृतसर पहुँचे। ये प्रयाग में बंदी थे। इन्होंने फकीर का भेष धारण कर लिया था। रणजीत-सिंह ने यह जानकर कि उनका और अंग्रेजों का झगड़ा है, उन्हें अपने राज्य से चले जाने को कहा।

प्राप्त की थी। शिक्षा प्राप्त करके वे लंडन में पशु-चिकित्सक (वेटरिनेरी सरजन) का काम करने लगे थे। सन् १८१६ में उन्होंने यारकद और बुखारा देखने की इच्छा से भारतवर्ष का परित्याग किया था। उन्होंने मानसरोवरादि झीलों की लंबी यात्रा भी की थी। रणजीतसिंह ने मूरक्राफ्ट साहब का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया था। यात्री मूरक्राफ्ट ने भी एक दुनली पिस्तौल, एक तलवार, क बंदूक, श्वेत रंग के चॅवर और कुछ पहाड़ी मुश्क के थैले महाराज को भेंट किए थे।* महाराज रणजीतसिंह ने विना किसी भेदभाव के, निष्कपट

---

* महाराज रणजीतसिंह ने मूरक्राफ्ट साहब से अकपट व्यवहार किया था और विना किसी संकोच के अपने जीवन की समस्त घटनाएँ उनसे कह दी थीं। परंतु कई इतिहास-लेखकों के कथन से पता लगता है कि मूरक्राफ्ट ने रणजीतसिंह के प्रति अकपट व्यवहार नहीं किया। मूरक्राफ्ट 'हाथ में माला और बगल में छूरी' वाली कहावत चरितार्थ करना चाहते थे। उस समय मूरक्राफ्ट पंजाब प्रांत में क्लाइव का काम करना चाहते थे। वे पंजाब के स्वाधीन नरेश रणजीतसिंह का मटियामेट करना चाहते थे। सन् १८१२ के जुलाई मास के माडर्न रिव्यू (The Modern Review) में फ्रेंच यात्री जेक्यूम्मों (Victor Jacquemont) की यात्रा का जो वृत्तांत छपा है, उससे मूरक्राफ्ट की आंतरिक इच्छा का पता लगता है। यह यात्री मूरक्राफ्ट की पंजाब यात्रा थोड़े दिन पीछे ही पंजाब पहुँचा था। वह लिखता है—'This gentleman (Moorcraft) was an English physician in the Company's service.

हो कर अपने जीवन का सब वृत्तांत मूरक्राफ्ट साहब से कहा था। उन्होंने मूरक्राफ्ट को अपनी घुड़सवार और पैदल सेना दिखलाई थी और आतिथ्य सत्कार में किसी प्रकार की कमी न होने दी। मूरक्राफ्ट के भ्रमण के

He was superintendent of the steed in India, a very lucrative employment. The Government allowed him several times leave of absence of which he took advantage to travel to the North of Himalaya......But the jug goes to the well so often that it gets broken at last. Mr. Moorcraft died there of a putrid fever, of a dose of poison or even a gunshot wound, it has never been properly explained which. He went to Luddak, thence to Cashmere. He thought by jesuitically giving himself a political character......he should smooth many difficulties in the object of his journey and he wrote a very ambiguous letter to Ahmed Shah which did not fail to fall into Ranjeet Singh's hands who, in his turn, did not fail to forward it to the British Government without complaint or comment. But a duplicate having reached Ahmed shah, he thought the English at his gates......Mr. Moorcraft's conduct was highly reprehensible, he brought a slur upon British honour among the Asiatics.

लिये भी उन्होंने बहुत-सी सुविधाएँ कर दी थीं। अंत में यह प्रबंध हुआ कि यदि वे तिब्बत से यारकंद न पहुँच सकेंगे, तो ऐसी अवस्था में वे काश्मीर के भीतर से काबुल और बुखारा तक जायँगे। अंत में मूरक्राफ्ट ने भी इस मार्ग का अवलंबन करना ही अच्छा समझा। कहते हैं, मूरक्राफ्ट बिना किसी विघ्न बाधा के लदाख पहुँच गए। वे बुखारा में पाँच महीने रहे थे।

रणजीतसिंह की ख्याति इस समय बहुत दूर दूर तक हो चुकी थी। सन् १८२१ में रूस के मंत्री प्रिंस वेलेसरोड के पास से महाराज के नाम एक पत्र आया जिस में मंत्री ने यह दर्शाया था कि रूस के राजा बड़े ही सहृदय व्यक्ति हैं, वे अन्य देशों की सुख-शांति की विशेष इच्छा रखते हैं। प्रधानतः वे सिक्ख नरेश के अत्यंत शुभचिंतक हैं। मंत्री ने एक सौदागर की रणजीतसिंह से सिफ़ारिश की थी और यह भी अनुरोध किया था कि दोनों देशों में व्यापारिक संबंध स्थिर हो। पंजाब के व्यवसायी लोगों को रूस राज्य में सादर सम्मानपूर्वक व्यवसाय का द्वार खुल जायगा। परंतु रूस के मंत्री का भेजा हुआ सौदागर पंजाब तक पहुँचने नहीं पाया। उसकी मार्ग में ही मृत्यु हो गई। इस भाँति उस समय रणजीतसिंह की कीर्ति-कौमुदी का विस्तार चारों ओर हो रहा था।

रणजीतसिंह के प्रताप की ज्योति केवल रूस राज्य तक ही पहुँचकर नहीं रह गई थी; किंतु फ्रांस तक रणजीतसिंह का नाम हो गया था। महावीर नेपोलियन यूरोप के कितने ही स्वाधीन नामधारी नरेशों के मुकुट पैर तले रौंदकर कितने साधारण व्यक्तियों को राजमुकुट पहनाकर, कितनी ही महाशक्तियों के दाँत खट्टे करके, बिजली की भाँति चमककर लय हो चुका था। जो नवयुवक महावीर सम्राट् नेपोलियन की अभ्य-

क्षता में रणक्षेत्र में अभूतपूर्व कौशल प्राप्त कर चुके थे, उनको नेपोलियन के पतन के पश्चात् अपनी महात्वाकांक्षाओं के, अपने हृदय की उमंगों के प्रकट करने का फ्रांस में कोई साधन नहीं रह गया था। वे इधर उधर तितर बितर हो गए थे। जिसको जहाँ कहीं किसी वीर पुरुष का आश्रय मिला, उसने वही ग्रहण किया। ऐसे ही महत्वाकांक्षा रखनेवाले दो फ्रेंच युवक महाराज रणजीतसिंह के यहाँ सन् १८२० में पहुँचे जिनका नाम जनरल विचूरा और अलार्ड था। जनरल विचूरा जाति का इटालियन था और महावीर नेपोलियन को अधीनस्थ सेनाओं में इटाली और स्पेन में काम कर चुका था। जनरल अलार्ड एक फ्रेंच था, जो विचूरा की भाँति ही नेपोलियन के अधीन कितने ही युद्धों में अनुपम वीरता के कारण नाम प्राप्त कर चुका था। उक्त दोनों रणवीर पहले ईरान में जीविका के निमित्त आए थे; फिर वहाँ से काबुल और कधार होते हुए लाहौर के दरबार मे पहुँचे। वे मुसलमानों का सा भेष धारण किए हुए थे। रणजीत-सिंह उनसे बहुत अच्छी तरह से मिले, पर अपना संदेह मिटाने के लिये दोनों फ्रेंच युवकों से उनके लाहौर आने का उद्देश्य उनकी मातृभाषा अर्थात् फ्रेंच भाषा में लिखवाया। दोनों युवकों ने पहले फ़ारसी भाषा में अपने आने का उद्देश्य लिख कर दिया, पर रणजीतसिंह ने यह स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उनसे उनकी मातृभाषा में लिखवाया और लिखवाकर लुधियाने के ब्रिटिश एजेंट के पास दोनों फ्रेंच युवाओं का प्रार्थनापत्र भेज दिया और उस प्रार्थनापत्र को गुरुमुखी में अनुवाद करके मँगवाया।* लुधियाने से उत्तर आने पर रणजीतसिंह के सब

---

* महाराज रणजीतसिंह की सेना में कितने ही युरोपियन नौकर थे। एक फ्रेंच कर्नल कोर्ट भी था। एक कर्नल गार्डनर

संदेह मिट गए, अच्छे वेतन पर उन्होंने फ्रेंचों को अपने यहाँ रखा। लाहौर के प्रसिद्ध मुहल्ला अनारकली की मसजिद उन्हें ठहरने के लिये दी गई। महाराज तीन शर्तों पर अपने यहाँ यूरोपियनों को नौकर रखते थे। शर्तें ये थीं कि गोमांस (बीफ़) नहीं खाने पावेंगे, डाढ़ी नहीं मुड़ावेंगे और तमाखू नहीं पीने पावेंगे। कहते हैं, जनरल विचूरा और अलार्ड तमाखू पीने की शर्त से मुक्त कर दिए गए थे। महराज यूरोपियनों को वेतन भी देते थे। इसके अतिरिक्त रहने का स्थान, जमीन आदि भी देते थे। कई यूरोपियन महाराज के विश्वासपात्र थे। फ्रेंच सैनिकों ने महाराज की सेना की व्यवस्था भी बहुत अच्छी की थी।

नौशेरा का युद्ध—सन् १८२३ में नौशेरा का इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ। इस संग्राम की जड़ यही कही जाती है कि प्रथम वर्ष सितंबर मास मे सिक्ख सेना रावलपिंडी गई थी। वहाँ से फ़कीर अज़ीजउद्दीन पेशावर के शासक यार मुहम्मद खाँ से कर वसूल करने के लिये गए थे। यार मुहम्मद खाँ ने सिक्ख सेना का मुकाबिला करने का सामर्थ्य न देखकर कुछ बहुमूल्य घोड़े महाराज को भेंट किए थे। इस तरह से उसने महाराज को संतुष्ट किया। महाराज ने वहाँ से अज़ीजउद्दीन को बुला लिया। पेशावर के शासक के भाई मुहम्मद अज़ीज खाँ की उस समय काबुल मे शक्ति बढ़ी चढ़ी हुई थी। उसने पेशावर के शासक अर्थात् अपने भाई का यह कार्य्य—रणजीतसिंह को

आयरिश था। और भी कितने ही यूरोपियन महाराज की सेना में थे। मालूम हो। है कि रणजीतसिंह एक चतुर राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने अपने यहाँ कर्मचारियों के लिये जातिपाँति का पक्ष नहीं रखा था, वे केवल गुणों का आदर करते थे।

घोड़े भेंट करना—पसंद नहीं किया। उसने खैबर से जलालाबाद तक समस्त प्रबंध का भार अपने हाथ में लेने के लिये कूच किया। वह २७ वीं जनवरी को पेशावर पहुँचा। यार मुहम्मद खाँ पहाड़ों में भाग गया। जब महाराज को मुहम्मद अजीज खाँ के पेशावर पहुँचने का समाचार मिला तो उन्होंने राजकुमार शेरसिंह की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना भेजी। दीवान कृपाराम, हरीसिंह नलवा, सरदार अतरसिंह और सरदार ध्यानसिंह आदि भी सेना के साथ गए थे। सिक्खों ने अटक पार करके जमरूद का दुर्ग ले लिया, जिसमें सिक्ख और अफ़गान दोनों ओर की कुछ हानि हुई। अफगान पहाड़ों मे भाग गए। इस पराजय से अफ़गान निराश नहीं हुए। उन्होंने अफ़रीद प्रदेश से "जहादी" और धर्मोन्मत्त अफ़गानों की एक बड़ी सेना अटक के पश्चिम अठारह कोस के फासले पर इकट्ठी की। उन्होंने "जहाद" अर्थात् धर्मयुद्ध की घोषणा कर दी। "जहाद" के नाम पर "खट्टक" जाति और "यूसुफ़जई" संप्रदाय की प्रायः बीस हजार सेना हो गई थी। दोनों ओर से घमासान अग्निवर्षा होने लगी। "हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्"। उस समय सिक्ख और अफगान दोनों का यही मूल मंत्र हो गया था। अकाली संप्रदाय के सिक्ख फूलसिंह * की

---

* यह वही फूलसिंह था, जिसका थोड़ा-सा वृत्तांत पहले लिखा जा चुका है। अकाली लोग सिक्खों में पुरोहित के कार्य्य करते हैं। फूलासिंह अकाली सिक्खों के सरदार थे। उन्होंने सन् १८०९ में चार्ल्स मेटकाफ और कप्तान वाईट (जो उसी वर्ष पटियाला राज्य की सीमा निश्चित कर रहे थे) के दल पर आक्र-

अध्यक्षता में भीम वेग से मुसलमानों पर आक्रमण करने लगे। इस युद्ध में फूलासिंह अकाली अद्भुत वीरता का परिचय देकर अफ़गान सेना को छिन्न भिन्न करके भूतलशायी हुए। सिक्ख और अफ़गान एक दूसरे से इस तरह भिड़ गए कि युद्धस्थल में रक्त की नदी वह निकली। युद्धस्थल में चारों ओर योद्धाओं के शवों का ढेर ही ढेर दिखलाई पड़ता था। इस युद्ध में सिक्ख और अफ़गान दोनों की प्रबल हानि हुई। कप्तान वेड (Capt. Wade) ने लिखा है कि सिक्खों की सेना के दो हजार और

मण किया था। सन् १८१४ में फूलसिंह ने झींद के बागी सरदार प्रतापसिंह का पक्ष लिया था। अंग्रेजों ने उसका स्थान स्थान पर पीछा किया था और महाराज रणजीतसिंह ने उसको गिरफ्तार करने की वर्षों चेष्टा की, पर वह पकड़ा नहीं गया। प्रतापसिंह के उत्पात करने पर महाराज ने फिल्लौर में अपनी सेना अपने राज्य में से उसे हटाने के लिये भेजी। महावीर नेपोलियन ने एल्बा टापू से निकलकर फ्रांस देश पर पुनः अधिकार करते समय, जो फ्रेंच सेना उससे लड़ने के लिए आई थी, उनके सिपाहियों से अपने कोट के बटन खोल कर कहा था—"सैनिको ! क्या तुम अपने सम्राट् पर गोली छोड़ोगे"। बस नेपोलियन के यह शब्द सुनते ही सैनिकों ने अपने अस्त्र रख दिए थे। वैसे ही महाराज रणजीतसिंह की खालसा सेना के पहुँचने पर फूलासिंह अकाली ने खालसा सेना से कहा—"क्या तुम अपने सत्य गुरु का वध करोगे"? यह सुनते ही सेना ने फूलसिंह पर अस्त्र नहीं उठाया

अफ़गानों के तीन हज़ार से ऊपर सैनिक मारे गए। विजय-लक्ष्मी ने प्रसन्न होकर सिक्खों को जयमाल पहनाई। साहसी और धर्मोन्मत्त पर्वतवासी अफ़गान इस पराजय के बाद पुन: इकट्ठे हुए। उन लोगों ने दूसरे दिन फिर युद्ध करने की ठानी, किंतु काबुल के वजीर ने पर्वतवासियों की सहायता मिलने पर भी उस समय युद्ध करने की इच्छा नहीं की। युद्धक्षेत्र से हट जाने में ही उन्होंने अपना कुशल मंगल समझा। सिक्ख सेना ने पेशावर ध्वंस कर डाला। यार मुहम्मद खाँ के वश्यता स्वीकार करने के प्रस्ताव पर महाराज ने काबुल उसके अधीन किया। बहुत थोड़े दिन बाद मुहम्मद आज़म खाँ की मृत्यु हुई। उसके साथ ही साथ पेशावर, काबुल और कंदहार प्रभृति के तीनों भाइयों के सैन्यदल की एकता नष्ट हो गई।

और वह उसको एक परिव्राजक साधु समझने लगी। सारी सेना दो मास तक जहाँ कहीं वह जाता था, उसके पीछे पीछे जाती रही कि कहीं वह राज्य में उत्पात न करे। पर यह सेना फूलासिंह के साथ गार्ड आफ आनर की तरह रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकी। फूलासिंह एक अद्भुत पुरुष था। यद्यपि वह एक लुटेरा और उत्पाती था, तथापि वह एक वीर योद्धा तथा उत्साही सिपाही था। (Punjab Rajas-page, 350) जब मूरक्राफ्ट साहब अमृतसर में थे, तब फूलासिंह ने उनसे रणजीतसिंह से असंतुष्ट होने की बात कही थी और अंग्रेजों के साथ सम्मिलित होने के लिये भी कहा था। पर मूरक्राफ्ट ने उसको रणजीतसिंह के साथ रहने का परामर्श दिया था (Moorcraft's-Ttavel I-page 110)।

महाराज रणजीतसिंह के समस्त युद्धों के यहाँ वर्णन करने का स्थान नहीं है। कहने का सारांश यह है कि महाराज रणजीतसिंह के समय में सिक्खों का सूर्य्य मध्याह्न पर पहुँच रहा था। महाराज रणजीतसिंह के समय में सिक्खों की ध्वजा पताका, उत्तर और ईशान कोण की ओर हिंदूकुश और तिब्बत की पर्वतमाला तक पहुँच गई थी और नैर्ऋत्य कोण की ओर हसमाँखेल और खैबर तथा सुलेमान की पर्वतमाला से जा मिली थी। मिठनकोट से अमरकोट तक उस राज की सीमा सिंधु नदी थी और अग्नि कोण की ओर सतलज नदी बहती थी। सतलज के इस पार भी पैंतालीस गाँवों पर सिक्खों की ध्वजा फहरा रही थी। महाराज रणजीतसिंह का प्रताप मध्याह्न के सूर्य के समान इतना चमक रहा था कि उस समय कोई ऐसा ही विदेशी यात्री आया होगा, जिसने महाराज रणजीतसिंह का दरबार न देखा होगा। सच पूछिए तो उस समय सिक्ख साम्राज्य अपनी पूरी ओज पर था।

सन् १८२६ में महाराज रणजीतसिंह बीमार पड़े। उन्हें हकीम अजीज उद्दीन और इनायत शाह की चिकित्सा से कुछ भी लाभ नहीं हुआ, तब उन्होंने अंग्रेजों को योग्य डाक्टर भेजने के लिये लिखा। इस पर अंग्रेजों ने एक योग्य डाक्टर मरे को भेजा, जिसका शालामार बाग में फकीर अजीज उद्दीन और दीवान मोतीराम ने धूमधाम से स्वागत किया। उसको प्रथम दिन एक हजार रुपया नकद, मिठाई, फल, गुलाबादि के शरबत भेंट किए गए। जब तक वह लाहौर में था तब तक उसको नित्य रुपए मिलते थे। महाराज रणजीतसिंह विदेशियों से विशेषतः अंग्रेजों से भेंट करते समय अनेक प्रकार के प्रश्न किया करते थे। महाराज इस वार्तालाप से विदेशियों की राजनीति,

चाल ढाल आदि का परिचय प्राप्त कर लेते थे। इसी लिये शायद उन्होंने डाक्टर मरे से लार्ड एमहर्स्ट, वर्म्मा और अंग्रेजों के युद्ध के विषय में पूछा था।

सन् १८२७ में, गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट साहब शिमला गए थे। उस समय रणजीतसिंह ने दीवान मोतीराम और इमामुद्दीन को लाट साहब से मिलने के लिये भेजा, और काश्मीरी शाल का एक डेरा भी इंगलैंड के राजा के लिये भेजा। लाट साहब ने भी कप्तान वेड साहब को कप्तान पियर्सन साहब और डाक्टर जिराई साहब के साथ कुछ पदार्थ रणजीतसिंह की भेंट के लिये भेजे *। पेशावर के हाकिम से सन् १८२८ में "लैली" घोड़ा महाराज रणजीतसिंह के हाथ लगा।

सन् १८३१ की २५ वीं जुलाई की संध्या के समय महराज

---

* कप्तान वेड से महाराज रणजीतसिंह ने कहा था कि लुधियाने में हमारा एक प्रतिनिधि रखा जाय पर इस प्रतिनिधि का अंबाले के प्रतिनिधि से कोई संपर्क नहीं होगा, वह दिल्ली के रेज़ीडेंट के अधीन रहेगा। इसी वर्ष राजा ध्यानसिंह के लड़के राजा हीरासिंह का विवाह बड़ी धूमधाम से हुआ। महाराज ने जो बहुमूल्य खेमा इंगलैंड नरेश के यहाँ भेजा था, उसके परिवर्तन में इंगलैंड के राजा ने वहाँ से भी चार घोड़ियाँ और एक जोड़ी घोड़ा, जैसे विलायत में गाड़ियाँ खींचते हैं, भेजे। महाराज घोड़ों के बहुत शौकीन थे, इसलिये घोड़े ही भेजना ठीक हुआ। ये घोड़े बंबई से कच्छ होकर सिंधु और रावी नदी की राह लेफ्टिनेंट अलक्जेंडर बर्नस साहब के साथ नावों पर लाहौर में आए थे।

रणजीतसिंह ने लेफ्टिनेंट बर्नेस से भेंट की। महाराज को बर्नेस साहब से निजी (प्राईवेट) भेंट थी। इस भेंट से पता लगता है कि रणजीतसिंह जैसे रणवीर थे वैसे ही हास्य रस और आमोद-प्रमोद में भी किसी से कम नहीं थे। भेंट के समय महाराज ने दरबार बरखास्त कर दिया। काश्मीर तथा उसके आस-पास की पर्वतमालाओं की बहुत सुंदर चालीस-पचास कम उम्र की वेश्याओं का एक दल उपस्थित था। उस समय उन सबका एक सा भेष था, सब की सब रेशमी बहुमूल्य आँखों में चकाचौंध करनेवाली पोशाक पहने हुए थीं। महाराज ने अपने अंग्रेज मेहमान से मुस्कराते हुए कहा—"यह मेरी सेना का एक दल (पलटन है, किंतु वे (वेश्याएँ) कहती हैं कि हम इस सेना का प्रबंध नहीं कर सकते। अंग्रेज मेहमान तथा पहाड़ी वेश्याएँ दोनों महाराज के इस कथन से प्रसन्न हुए। महाराज ने उक्त साहब बहादुर से दो स्त्रियों की ओर इशारा करके यह भी कहा कि ये मेरी इस सेना की नेत्री हैं। जागीर स्वरूप इनको दो गाँव मिले हुए हैं। इनमें से एक पाँच रुपए और दूसरी दस रुपए नित्य पाती है। इन सब बातों के हो चुकने के पश्चात् महाराज ने उस अव्यवस्थित सेना को हाथियों पर उनके घर भेज दिया। इस तरह से महाराज और लेफ्टिनेंट बर्नेस की निजी भेंट समाप्त हुई।

हम पहले कह आए हैं कि कोई ऐसा ही विदेशी यात्री होगा, जो भारतवर्ष में आकर महाराज रणजीतसिंह का दरबार देखे बिना लौट गया हो। सन् १८३१ में फ्रांस देश का प्राणिशास्त्रवेत्ता जेक्यूम्मो * लाहौर पहुँचा। फकीर अजीज उद्दीन के बेटे शाहदीन

---

* जुलाई सन् १९१२ के माडर्न रिव्यू के अंक में जेक्यूम्मो के

ने फुल्लौर में उसका सैनिक ठाट बाट से स्वागत किया। लाहौर में भी उसके देश के फ्रेंच, एलार्ड, वेंचूरा और कोर्ट प्रभृति ने जो महाराज रणजीतसिंह की सेवा में थे, उसका वैसा ही स्वागत किया। यद्यपि रणजीतसिंह कुछ पढ़े लिखे नहीं थे, परंतु उन्हें देश देशांतरों के वृत्तांत जानने की सदैव बलवती लालसा रहती थी। संभव है, वे अन्य देशों की शासनप्रणाली, रीति-रिवाज, सेना-संचालनादि विषयों की जानकारी प्राप्त करके, उससे लाभ उठाने की चेष्टा करते हों। उन्होंने उक्त फ्रेंच यात्री से भी अनेक प्रकार के प्रश्न किए थे। उन्होंने अंग्रेजों, नेपोलियन बोनापार्ट प्रभृति के सबंध में बहुत-सी बातें पूछी थीं। हमारे बहुत से पाठक यह सोचते होंगे कि रणजीतसिंह केवल सांसारिक विषय के प्रश्न करके ही चुप हो गए होंगे। नहीं उन्होंने फ्रेंच यात्री से नरक, स्वर्ग, जीव, आत्मा, परमात्मा तथा ईसाइयों के शैतान के बारे में भी बहुत से प्रश्न किए थे। जेक्यूमो ने महाराज

कुछ पत्रों का अंग्रेजी अनुवाद छपा है जो उसने अपने पिता को लिखे थे। इन पत्रों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि उक्त फ्रेंच यात्री को रणजीतसिंह के यहाँ से मेहमानदारी और खिलअत में इतना धन मिला था, जो फ्रेंच गवर्नमेंट के यहाँ के एक वर्ष के वेतन से भी कहीं अधिक था। यद्यपि उसने महाराज रणजीतसिंह की प्रशंसा की है, तथापि अन्य यूरोपियनों के समान वह भी रणजीतसिंह की निंदा करने से नहीं चूका है। अपने पत्रों में जहाँ कहीं प्रसगवश उसको रणजीतसिंह के संबध में कुछ लिखना पड़ा है, वहीं उसने रणजीतसिंह के प्रति घोर कृतघ्नता का परिचय दिया है।

रणजीतसिंह को एक शक्तिशाली, अद्भुत पुरुष लिखा है! वास्तव में जो जो यूरोपियन महाराज रणजीतसिंह के यहाँ गए थे, उन सबको महाराज रणजीतसिंह को अद्भुत शक्ति देखकर चकित स्तंभित होना पड़ा था।

सन् १८३२ के फरवरी मास की संध्या को लेफ़टिनेंट बर्नस महाराज रणजीतसिंह के यहाँ से विदा हुए। रणजीतसिंह अन्य देशों के वृत्तांत जानने के कितने उत्सुक रहते थे, उसका अनुमान केवल इसीसे किया जा सकता है कि उन्होंने लेफ्टिनेंट बर्नस से सदैव अपने को स्मरण करते रहने को कहा। साथ ही यह भी अनुरोध किया कि जहाँ कहीं वे (बर्नस) जायँ, वहाँ से बराबर पत्र भेजते रहें। रणजीतसिंह केवल यह अनुरोध करके ही नहीं रह गए थे। परंतु उन्होंने बर्नस को बुखारा और तातार के जंगलों तक में पत्र भेजे थे। महाराज के इस प्रकार के व्यवहार का बर्नस पर प्रभाव भी विशेष हुआ। उसने स्वयं लिखा है—"मेरे ऊपर किसी एशियानिवासी की उपस्थिति का उतना प्रभाव नहीं हुआ है जितना इस मनुष्य का हुआ है। बिना शिक्षा प्राप्त किए, बिना किसी पथप्रदर्शक के, वह अपनी अलौकिक शक्ति और दृढ़ता से अपने राज्य का समस्त प्रबंध करता है।"

इसी वर्ष सन् १८३१-३२ मे महाराज रणजीतसिंह ने *

---

* रणजीतसिंह और अंग्रेजों की प्रगाढ़ मैत्री थी, परंतु फिर भी महाराज और अंग्रेज दोनों के बीच में कुछ अविश्वास हो गया था। अविश्वास और संदेह के दूर करने के लिये ही दोनों ओर से मिलने की सूझी होगी। महाराज रणजीतसिंह का दबदबा

फ़कीर अज़ीज उद्दीन तथा अपने अन्य कुछ सरदारों को शिमले में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैटिंक से भेंट करने के लिये भेजा। गवर्नर जनरल बहादुर ने रणजीतसिंह के कर्मचारियों से अच्छी तरह से भेंट की। कुछ दिन के बाद रोपड़ में रणजीत-सिंह और लाट साहब की बड़ी धूमधाम से भेंट हुई। इस भेंट से महाराज रणजीतसिंह और अंग्रेज सरकार दोनों की मैत्री दृढ़ हुई।

सन् १८३३ में रणजीतसिंह बहुत बीमार हुए, परंतु थोड़े दिन पीछे अच्छे हो गए। दूसरे वर्ष रणजीतसिंह की सेना ने कुँवर नौनिहालसिंह और हरीसिंह नलवा की अध्यक्षता में पेशावर पर सिक्खों की ध्वजा पताका फहरा दी। इस पर काबुल के दोस्तमुहम्मद खाँ ने सिक्खों से पेशावर लेने के लिये सन् १८३५ में बड़ी धूमधाम से तैयारी की और अफ़गान सेना जलालाबाद में पहुँची। सिक्ख और अफ़गानों में युद्ध छिड़ गया, रणचण्डिका का नृत्य आरंभ हुआ। पहले विजयलक्ष्मी अफगानों की ओर ढलती हुई प्रतीत हुई, पर अंत में उसने सिक्खों को जयमाल पहनाई।

सन १८३६ में महाराज अपने राज्य में दास-प्रथा बंद

कितना था, इसका परिचय पाठकों को केवल इस घटना से ही मिल जायगा कि जब शिमले में किसी अंग्रेज कर्मचारी ने फकीर अज़ीज़ उद्दीन से पूछा था कि रणजीतसिंह कौन-सी आँख से काने हैं, तब फ़कीर ने उत्तर दिया—"जनाब, उनके मुख का तेज इतना है कि मुझे यह पता नहीं लगा कि महाराज काने हैं या नहीं जिससे आपको बतलाऊँ।"

कर दी। इसी वर्ष रणजीतसिंह ने अपने पौत्र * कुँवर नौनिहाल-सिंह का विवाह बड़ी धूमधाम से अमृतसर में किया; परंतु इस विवाह का आनंद कुछ किरकिरा सा हो गया, कारण इसका यह हुआ कि अफ़गानों से पुनः सिक्खों का युद्ध

---

* राजकुमार नौनिहालसिंह का विवाह सन् १८३७ की ७ वीं मार्च को हुआ था। पटियाला, झींद, नामा और फरीदकोट के राजा इस विवाह में पधारे थे। मलेरकोटला के नवाब तथा और भी बहुत से सरदार आए थे। भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल लार्ड आकलैंड, सर चार्ल्स मेटकाफ, ब्रिटिश सेना के सेनापति, जनरल सर हेनरी फेन भी विवाहोत्सव में सम्मिलित होनेवाले थे, पर वे किसी कार्यवश नहीं जा सके। केवल जनरल सर हेनरी ही पहुँचने पाये थे। कहते हैं महाराज रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सेनापति से—"क्या इरान में रूस का प्रभाव अंग्रेजों को हानि पहुँचा रहा है?" "क्यों आपके विचार में ईरान, रूसियों को इस ओर आने में पूर्ण साहाय्य प्रदान करेगा?" इत्यादि प्रश्न किए थे, जिनका उचित उत्तर ब्रिटिश सेनापति ने दिया था। २२ वीं मार्च को रणजीतसिंह ने बड़ी धूम धाम से होली मनाई थी। इस होलिकोत्सव में सर हेनरी फेन भी उपस्थित थे। स्वयं महाराज ने अपने हाथ से सर हेनरी के मुख पर गुलाल मला। महाराज के वज़ीर ने जनरल मोबीवर को गुलाल और अबीर लगाया। लतीफ लिखता है कि उस समय कंधार से एक अफगान राजदूत गुली मुहम्मद खाँ एक कट्टर मुसलमान आया था। उसे इस बात का कुछ भी विचार

छिड़ गया। अफ़गान और सिक्खों की शत्रुता बहुत दिनों से चली ही आ रही थी। हरीसिंह नलवा ने खैबर घाटी पर जमरूद में एक सुदृढ़ दुर्ग बनाना चाहा था। बस अफ़गानों को युद्ध का बहाना मिल गया। जो वैर विद्वेषभाव बहुत दिनों से चला आ रहा था, वह भड़क उठा। समाजशास्त्र के ज्ञाताओं से यह बात छिपी नहीं है कि जातियों का पारस्परिक विद्वेषभाव कभी मिटता नहीं है। वह आकाश के नीले रंग के समान अटल रहता है। सिक्ख और अफ़गानों के संबंध में भी यही बात थी। वर्षों की विद्वेषाग्नि प्रज्वलित हो गई। काबुल के दोस्त मुहम्मद खाँ ने अफ़गानों की बड़ी सेना सिक्खों के मुक़ाबिले में भेजी। जमरूद की खैबर घाटी पर ३० वीं अप्रैल सन् १८३७ को रणचंडी का नाच प्रारंभ हुआ, जिसमें पहले सिक्खों ने अफ़गानों को खदेड़ दिया। सिक्खों ने अफ़गानों पर अपनी विजय समझ कर अफ़गानों को युद्ध स्थल से ही खदेड़ देना चाहा था। अफ़गान योद्धा जिधर मार्ग मिला, उधर ही भागने की चेष्टा करने लगे। इतने में ही शमसुद्दीन नामक एक अफ़गान की अधीनता में बहुत-सी घुड़सवार सेना आ

नहीं था कि उसके साथ क्या बर्ताव होगा ? जब वह दरबार में पहुँचा उसके बहुमूल्य वस्त्रों पर रंग डाल दिया गया, सिर से पैर तक उसके कपड़े केसरिया रंग में रँग गये, उसकी सुंदर सफेद दाढ़ी अबीर से रंग गई। लाहौर में सर हेनरी के रहते समय, लाहौर दरबार में सरदार सुलतान मुहम्मद खाँ का भाई पीर मुहम्मद खाँ १,२०० अफ़गान सवारों के साथ, महाराज को नजर देने के लिये आया था।

गई। इस सहायता को पाकर अफगान सेना का वल बढ़ गया। जो दशा अफगानों की अब तक हो रही थी वही उन्होंने सिक्खों को करनी आरंभ की। सिक्खों की ऐसी दुर्गति देख कर वीर चूड़ामणि * हरीसिंह नलवा मैदान में डट गया। सिक्ख सेना अपने सेनापति की युद्ध में अचल, अटल मूर्त्ति को देख कर प्राणों का मोह छोड़ कर लड़ने लगी। अंत में

---

* कई इतिहासलेखकों ने लिखा है कि हरीसिंह नलवा की मृत्यु के पश्चात् महाराज रणजीतसिंह ने उसका लगभग अस्सी लाख रुपए का माल जब्त कर लिया था। नहीं जानते कि इस कथन में कहाँ तक सचाई है? सन् १८२४ में हरीसिंह नलवा पेशावर का शासक नियुक्त हुआ था। किसी किसी इतिहासलेखक ने यह भी लिखा है कि हरीसिंह नलवा उस समय ज्वर से पीड़ित था, और पीड़ितावस्था में ही वह युद्ध में गया था। हरीसिंह के पेट में दो गोलियाँ लगी थीं। यदि उस समय युवराज खड्गसिंह, राजकुमार नौनिहालसिंह और जमादार खुशालसिंह के अधीन सिक्ख सेना न पहुँचती तो न मालूम सिक्खों का भाग्य किधर ढल जाता? हरीसिंह नलवा अफगानों का कट्टर शत्रु था। सैय्यद मुहम्मद लतीफ़ हरीसिंह नलवा की वीरता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"आज तक अफगान माताएँ पेशावर और उसके आस पास के स्थानों में "हीरा" का नाम लेकर बच्चों को डराया करती हैं।" (देखो—History of the Punjab from the remotest antiquity to the present time, page 483.)

विजयलक्ष्मी ने सिक्खों की शरण ली। हरीसिंह नलवा इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त करके, इतिहास में अपनी चिरस्मरणीय कीर्त्ति छोड़ गया। दोस्त मुहम्मद का भी एक लड़का इस युद्ध में मारा गया। सिक्ख और अफगान दोनों ओर के लगभग सात हज़ार योद्धा भूतलशायी हुए।

* सन् १८३८ में बृटिश गवर्नमेंट भाग्यहीन शाह सूजा को काबुल के राजसिंहासन पर फिर बैठना चाहती थी। इसलिये

---

* उस समय के गवर्नर जनरल अर्ल आफ आकलैंड के युद्धमंत्री (मिलिटरी सेक्रेटरी) आनरेबल डबल्यू० जी० आसबर्न भी लाहोर गए थे। उन्होंने अंग्रेजी में एक पुस्तक "The Court and Camp of Ranjit Singh" में महाराज के दरबार का मनोरंजक वृत्तांत लिखा है। एक स्थान पर लिखा है कि राजा ध्यानसिंह के पुत्र हीरासिंह का, जिसकी अवस्था १८ वर्ष की थी, रणजीतसिंह पर अद्भुत प्रभाव था। उसका बाप ध्यानसिंह रणजीतसिंह के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा था। पर वह रणजीतसिंह को बात चीत में ही निधड़क हो कर काट देता था। रणजीतसिंह के रूप रंग का वर्णन करते हुए लिखा है—"तीन वर्ष पहले रणजीतसिंह को पक्षाघात (लकवा) हो चुका है जिससे वे रुक रुक कर बात चीत करते हैं। जब वे बैठते हैं तब बहुत कमजोर मालूम होते हैं। जब खड़े होने की चेष्टा करते हैं तब उनकी निर्बलता और भी बढ़ जाती है, पर जब घोड़े पर सवार होते हैं, तब उनकी समस्त शारीरिक निर्बलता दूर हो जाती है।......

गवर्नर जनरल लार्ड आकलैंड ने महाराज रणजीतसिंह से भेंट की। पहले फिरोज के घाट से सतलज पार उतर कर महाराज और गवर्नर जनरल लाहौर गए। दोनों स्थानों में बड़े ठाठ बाट से गवर्नर जनरल और महाराज की भेंट हुई थी।

सन् १८३९ में रणजीतसिंह का अंतिम समय आ पहुँचा। पक्षाघात का इतना प्रबल आक्रमण हुआ कि वे बोल नहीं सकते थे। केवल हाथों के इशारे से राजकाज संबंधी बातें बतला दिया करते थे।

इसमें संदेह नहीं कि रणजीतसिंह दूरदर्शी थे। उन्होंने अपनी मृत्यु से पूर्व मुख्य मुख्य सरदारों और कर्मचारियों को बुलाया। उनकी एक सभा की। सभा में उन्होंने हिंदुओं की शुद्ध सनातन रीति के अनुसार निश्चय किया कि खड्गसिंह राजसिंहासन पर बैठे। कोई कोई कहते हैं कि रणजीतसिंह ने अपने सामने ही खड्गसिंह को राजतिलक करवा दिया था।

रणजीतसिंह पराक्रमी हैं। वे अपनी सेना के सिपाहियों के प्रति उदारता का व्यवहार करते हैं।" जितने विदेशी यात्री महाराज रणजीतसिंह के यहाँ पहुँचते थे उन सबसे महाराज अपनी सेना का निरीक्षण कराते थे। ओसबर्न साहब ने भी पंजाबकेसरी की सेना का निरीक्षण किया था, जिसकी उन्होंने प्रशंसा लिखी है। महाराज के जो प्रश्न अन्यान्य युरोपियनों से होते थे वैसे ही ओसबर्न से भी हुए। एक प्रश्न यह भी था कि क्या बर्मी योद्धा इतने पराक्रमी होते हैं जो अँग्रेजी सिपाहियों को मार भगावेंगे।" और भी रूस फ्रांसादि की सेना के संबंध में बहुत सी बातें हुईं।

*राजा ध्यानसिंह को उन्होंने खड्गसिंह का मंत्री नियुक्त किया।

मृत्यु का समय निकट जान कर रणजीतसिंह ने बहुत-सा दान पुण्य भी किया था। किसी किसी इतिहासलेखक का कथन है कि जिस दिन महाराज मरे थे उसी दिन कम से कम एक करोड़ रुपया दान पुण्य हुआ था। हजारों रुपए भूखों और अनाथों को नित्य प्रति बाँटे जाते थे। † अन्य दान पुण्य के अतिरिक्त, पच्चीस लाख रुपये की संपत्ति तथा बाइस लाख रुपए नकद तो साधु संन्यासियों, फ़क़ीरों, धर्मशालाओं, मन्दिरों मसजिदों तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं में बँटवा दिए थे। ढाई सौ मन घी ज्वालामुखी मंदिर को भेजा गया था। राजा ध्यान-सिंह ने दस लाख रुपये का एक बड़ा चबूतरा बनवाया और उस पर दस हज़ार रुपए के शाल बिछवा दिए थे। देहांत हो जाने के पश्चात् महाराज का शव उस चबूतरे पर रख दिया गया। कहते हैं कि मृत्यु के समय महाराज रणजीतसिंह ने प्रसिद्ध हीरा कोहिनूर भी दान में जगन्नाथ जी के मंदिर अथवा

---

* कई इतिहास लेखकों का इस स्थान पर मतभेद है। स्मिथ ने लिखा है कि जब रणजीतसिंह की मृत्यु का समय निकट था तब खड्गसिंह रणजीतसिंह के सामने बुलाए गए, पर राजा ध्यानसिंह ने खड्गसिंह और शेरसिंह को रणजीतसिंह तक नहीं पहुँचने दिया। वास्तव में यह घटना सत्य प्रतीत होती है; क्योंकि रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् ध्यानसिंह और खड्गसिंह में अनबन रहती थी, जिसका कारण बहुत से लोग यही घटना बतलाते हैं।

† देखो राय कन्हैया लाल की पुस्तक—तवारिखे पंजाब।

अमृतसर के सिक्ख मंदिर को देने का विचार किया था। वे उसको संकल्प करने के लिये तैयार भी थे। राजा ध्यानसिंह और जमादार खुशालसिंह उस हीरे को लेने के लिये गए थे, परंतु तोशेखाने के अधिकारी बेली राम ने कोहेनूर हीरा देना स्वीकार नहीं किया और कहा—"यह राज्य की संपत्ति है, इस तरह से फेंकी नहीं जा सकती"। अस्तु २७ वीं जून १८३९ को महाराज रणजीतसिंह इस संसार से कूच कर गए। रणजीतसिंह की मृत्यु से पंजाब का सिरमौर उठ गया, पंजाब के एक स्वाधीन हिंदू नरेश का लोप हो गया, पंजाब की एक सौभाग्य-श्री मलिन पड़ गई। वर्षों से खोया हुआ हिंदुओं का जो गौरव लुप्त हो गया था वह रणजीतसिंह के कारण ही प्राप्त हुआ था और उनके साथ ही विलुप्त हो गया।

---

(३) जीवन पर एक दृष्टि

"He is not dead whose glorious mind
Lifts thine on high.
To live in hearts we leave behind
Is not to die"

हम रणजीतसिंह की जीवनी की मुख्य मुख्य घटनाएँ पाठकों की भेंट कर चुके हैं जिन से ज्ञात हो गया होगा कि यदि जुलियस सीजर, नेपोलियन बोनापार्ट, सिकंदर आदि महापुरुषों में हैं तो रणजीतसिंह भी उन्हीं महापुरुषों में से एक हैं। केवल अपने भुजबल और बुद्धिबल से ही वे साधारण श्रेणी के सरदार की हैसियत से राजा नहीं, महाराजा के पद पर पहुँचे थे। राजा अनंगपाल के पश्चात् हिंदुओं की ध्वजा पताका मिट्टी में मिल गई थी। कोई भी ऐसा हिंदू स्वाधीन नरेश नहीं हुआ जो हिंदुओं की खोई हुई मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित करता। गुरु नानक और गुरु गोविंदसिंह के मंत्र साधन से प्रेरित हो कर रणजीतसिंह ने पिछली शताब्दी में हिंदुओं की ध्वजा पताका पंजाब में फहराई थी। उन्होंने अपनी प्रचंड वीरता के बल से ही सिक्ख साम्राज्य का अपूर्व विशाल संगठन किया था।

रणजीतसिंह के चरित्र का एक विशेष महत्व यह है कि सरस्वती देवी की उनपर बिल्कुल कृपा नहीं थी। वे अपना नाम तक लिखना पढ़ना नहीं जानते थे, तिस पर भी विजयलक्ष्मी उन्हीं की शरण लेती थी। वे विलक्षण बुद्धि और शक्ति संपन्न थे। यदि सन् १८०४ में अंग्रेजों के साथ उनकी संधि न होती तो संभव था कि सतलज के इस पार भी वे अनेक

प्रदेशों को अपने अधीन कर लेते। आज भी रणजीतसिंह के नाम पर पंजाब निवासियों की सूखी हड्डियों में खून दौड़ने लग जाता है। उनके असीम पराक्रम को देख कर आज भी विजयी बृटिश जाति उनको पंजाबकेसरी के नाम से पुकारती है।

ऊपर कह चुके हैं कि रणजीतसिंह विद्या से बिल्कुल कोरे थे, उन्हें अक्षर लिखना तक नहीं आता था, तिस पर भी वे बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे। किसी ने कहा है—"कवि बनाने से नहीं बनते, स्वयं पैदा होते हैं" वस्तुतः यही सिद्धांत अनेक नेताओं, राजा महाराजाओं के संबंध में भी चरितार्थ होता है। बनाए से कवि की भाँति कोई राजा नहीं होता है। यह बात नित्य प्रति देखने में आती है कि जो वंशपरंपरागत राजा, महाराजा होते हैं उनमे से अनेकानेक प्रतिभाहीन राजा दूसरों के इशारे पर नाचते रहते हैं। कठपुतली के समान वे दूसरों के हाथ यंत्र स्वरूप बने हुए होते हैं; पर जो प्रतिभाशाली, पराक्रमी और तेजस्वी हैं वे दूसरों के हाथ मे यंत्र स्वरूप न बन कर राज-काज में, सैन्य संगठन में, युद्ध स्थल में अपनी विलक्षण बुद्धि और प्रतिभा का परिचय दिया करते हैं। रणजीतसिंह भी ऐसे ही विलक्षण प्रतिभा संपन्न थे। रणजीतसिंह की प्रतिभा और तेजस्विता देख कर अनेक युरोपियन यात्रियों को चकित होना पड़ा था। रणजीतसिंह के समय में जितने युरोपियन लाहौर गए थे, उनको मुक्तकंठ से राज्यप्रबंध की प्रशंसा करनी पड़ी है। इतने विशाल राज्य का प्रबंध करना कोई खिलवाड़ नहीं था।

नेपोलियन बोनापार्ट के संबंध में कहा जाता है कि उसको भूगोल से बड़ा अनुराग था, वह पृथ्वी के मानचित्र को बड़े

ध्यान और चाव से देखा करता था। रणजीतसिंह पढ़े लिखे नहीं थे जो भूगोल का दिन रात मनन करते; परंतु जब कभी कोई विदेशी यात्री उनके दरबार में आता तब वे उससे अनेक प्रकार वार्त्तालाप करके सार मर्म्म ग्रहण कर लिया करते थे। विदेशी यात्रियों से प्रायः उनकी बात चीत अन्य देशों की शासन-प्रणाली तथा सेना संगठनादि विषयों पर हुआ करती थी। कई विदेशी यात्रियों ने अपने यात्रा-वृत्तांतों में महाराज रणजीतसिंह के इस प्रकार के प्रश्नोत्तर की बड़ी हँसी उड़ाई है।

रणजीतसिंह मनु के इस सिद्धांत के दृढ़ अनुयायी थे कि अच्छी बात जहाँ से मिले, वहीं से ग्रहण करनी चाहिये। इस सिद्धांत के अनुसार उन्होंने अपनी सेना का युरोपियन ढंग पर अपूर्व संगठन किया था। कितने ही विदेशी यात्री रणजीतसिंह की सेना को देख कर दंग हो जाते थे। रणजीतसिंह के दरबार और सिक्ख सेना की प्रायः सभी विदेशी यात्रियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। किसी किसी यात्री ने उनके दरबार की शोभा वर्णन करने में अच्छे-अच्छे कवियों को मात कर दिया है। जो लोग इस समय भी नेपोलियन बोनापार्ट का चरित्र लिखते समय समझ लेते हैं कि वह उनसे लड़ रहा है, उन्होंने रणजीतसिंह की नेपोलियन बोनापार्ट से उपमा देकर ही अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझी है! पर नेपोलियन बोनापार्ट और रणजीतसिंह में एक बड़ा भारी भेद है। नेपोलियन अपनी इच्छाओं को सीमाबद्ध करना नहीं जानता था, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ अपरिमित थीं। महत्वाकांक्षाएँ होना बुरा नहीं है और वह मनुष्य नहीं, जिसके हृदय में महत्वाकांक्षाएँ न हों; परंतु जिस प्रकार बिना अंकुश लिए मत्त हाथी को हाँकनेवाले फील-

वान को दशा होती है, वैसे ही अपनी महत्वाकांक्षाओं को सीमाबद्ध न रखनेवाले व्यक्ति की गति होती है। नेपोलियन के अधःपतन का कारण उसकी महत्वाकांक्षाएँ ही थीं। रणजीत-सिंह की जीवनी से भी ज्ञात होता है कि उनके हृदय में भी महत्वाकांक्षाएँ प्रबल रूप से हिलोरें ले रही थीं। परंतु वे अपनी महत्वाकांक्षाओं को परिमित रखना जानते थे। यही कारण है कि उनके जीवन की नेपोलियन के जीवन के समान समाप्ति नहीं हुई।

बहुत से लोगों ने रणजीतसिंह को एक लुटेरा कह कर ही अपनी अनोखी विशाल बुद्धि की पराकाष्ठा दिखाई है। पर ऐसे लोग भूलते हैं। इतिहास के विद्यार्थियों से यह बात छिपी नहीं है कि रणजीतसिंह की भाँति केवल व्यक्ति ही नहीं, बहुत से राष्ट्रों को भी लुटेरा कहा जा सकता है। इतिहास के पाठकों से यह अविदित नहीं है कि कई राष्ट्रों ने दूसरे राष्ट्रों की स्वाधीनता हरण करने के लिये रणजीतसिंह से बढ़ कर लुटेरापन किया है। इसी लिये तो हमारे शास्त्रकारों ने साम, दाम, दंड भेदादि कई प्रकार के उपाय लिखे हैं। रणजीतसिंह भी जहाँ जैसा अवसर देखते थे, वहाँ वैसी ही नीति बर्त्तते थे। राजा का कठोर कर्त्तव्य होता है, रणजीतसिंह अपने इस कठोर कर्त्तव्य से भली भाँति परिचित थे।

रणजीतसिंह ने अनेक छोटे मोटे राजाओं और सरदारों को उखाड़ा पुखाड़ा, कितने ही राजाओं के मुकुटों को अपने पैर तले रौंधा, परंतु इतने कठोर हृदय होने पर भी वे बड़े दानी थे। इतने दिन बीत जाने पर भी आज काशी, अमृतसर, लाहौर आदि में रणजीतसिंह के दान पुण्य की लोग चर्चा किया करते हैं।

ऊपर कहीं हम रणजीतसिंह के आमोद प्रमोद का वृत्तांत भी लिख आए हैं, परंतु रणजीतसिंह का रोआब भी ऐसा था कि कड़े से कड़े हृदय का मनुष्य उनको देखते ही दहल जाता था। उनके साथ सदैव रहनेवाले उनके मंत्रियों तक को, उनके चेहरे की ओर देखने की हिम्मत नहीं होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि महापुरुषों में जो लक्षण होने चाहिएँ, वे सब रणजीतसिंह में थे। * सिक्ख समाज का रणजीतसिंह के समय में पूर्णोदय हुआ। रणजीतसिंह के समय में सिक्खों का सौभाग्यसूर्य मध्याह्न पर था। रणजीतसिंह मे यदि कोई

---

* रणजीतसिंह की आय १४८८१५००) रुपया वार्षिक थी। और उन्होंने १०९२८०००) रुपये की सम्पत्ति जागीर और मुआफी में दे रक्खी थी। कप्तान मरे ने सन् १८३२ में रणजीतसिंह की सेना का जो अनुमान किया है वह यह है—

अलार्ड साहब के अधीन घुड़सवार और खास (रिजर्व) सेना	१२८११
नजीब वगैरः पल्टनों के सिपाही	४९४१

दुर्ग की सेना

सवार	३०००
पैदल	२३९५०

जागीरदारों की सेना

सवार और पैदल	२७३१२
कुल जोड़	८२०१४

कमी थी तो केवल यही थी कि वे अपने राज्य की कुछ ऐसी नीति स्थिर नहीं कर गए, जिससे भविष्य में उनका स्थापित किया हुआ राज्य हरा भरा रहता। इतने दिन कठोर परिश्रम करने से जो विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित हुआ था, वह थोड़े दिन पीछे ही किस तरह से धूल मट्टी मे मिल गया, वह पाठकों को आगे के परिच्छेदों के पढ़ने से ज्ञात होगा।

पंचम खंड

(१) अधःपतन काल

विषवृक्ष का आरंभ

"लक्ष्मी करत विनास अति, प्रबल सचिव नृप पाय।
पै निज बाल सुभाव सों, इकहिं तजत अकुलाय" ॥

—भारतेंदु हरिश्चंद्र।

यह हम कह आए हैं कि रणजीतसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र खड्गसिंह को अपने सामने ही राजतिलक करा दिया था, परंतु खड्गसिंह अपने पिता के समान राजनीतिज्ञ नहीं निकले। इतिहास के पाठकों से यह अविदित नहीं है कि पहले समय में भारतवर्ष में ही नहीं, अन्याय देशों में भी एक राजा के मरने के पीछे राजपरिवार में राजसिंहासन के लिये अनेक उत्पात मच जाते थे। रणजीतसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने सामने राजतिलक इसी लिये कराया था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् राजपरिवार में राजसिंहासन के लिए बखेड़ा खड़ा न हो, परंतु रणजीतसिंह की वह आशा सफल नहीं हुई। यद्यपि रणजीतसिंह ने लाहौर के हस्तगत हो जाने पर, ३६–३७ वर्ष तक राज्य किया था, परतु उनका शासन काल दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। उनका बहुत-सा समय शत्रुओं के दमन करने और अपनी राज्य व्यवस्था ठीक करने में गया था। यदि रणजीतसिंह कुछ दिन और जीते रहते तो संभव है कि वे अपने राज्य का कुछ ऐसा विलक्षण संगठन कर जाते कि उनकी मृत्यु होने के बाद शीघ्र ही सिक्ख साम्राज्य में इतने उत्पात न मचते।

किसी किसी इतिहासलेखक ने रणजीतसिंह के जेठे पुत्र खड्गसिंह को राज्य के सर्वथा ही अयोग्य ठहराया है। परंतु हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि खड्गसिंह सर्वथा ही राज्य के अयोग्य थे। इसमें संदेह नहीं कि उनमें अपने पिता के अलौकिक गुण बहुत ही कम आए थे। वे अपने पिता के समान धीर, स्थिर, गंभीर और राजनीतिज्ञ नहीं थे। मुग़लसम्राट बाबर के अधिकृत राज्य से शीघ्र ही उनके जेठे पुत्र हुमायूँ के वंचित होने का कारण, कई विज्ञ इतिहासलेखकों ने यही लिखा है कि "हुमायूँ एक ऐसा शासक था कि यदि नव-प्रतिष्ठित राज्य का संगठन अच्छी तरह से होता तो वह शांतिपूर्वक राज्य करता।" इतिहासलेखकों के उपर्युक्त कथन मे कुछ उलट पुलट करके महाराज खड्गसिंह के संबंध में यह कह दिया जाय कि यदि रणजीतसिंह का राज्य नवप्रतिष्ठित न होता तो खड्गसिंह भी शांतिपूर्वक राज्य करते रहते। हुमायूँ मे अपने मार्ग मे से विघ्न बाधाओं के दूर करने की क्षमता थी, खड्गसिंह इस क्षमता से रहित थे। यही कारण था कि महाराज खड्गसिंह थोड़े दिन ही अपने पैत्रिक राज्य का सुख भोग सके थे। थोड़े दिनों में ही राजा ध्यानसिंह और महाराज खड्गसिंह परस्पर प्रेम की प्रतिज्ञा भूल गए। दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति विद्वेष-वह्नि प्रज्वलित हो गई, जिसके कारण सिक्ख समाज के अधःपतन का सूत्रपात हुआ, फूटरूपी विषवृक्ष उत्पन्न हो गया।

महाराजा रणजीतसिंह के समय में राजा ध्यानसिंह की क्षमता धीरे धीरे इतनी बढ़ गई थी कि ध्यानसिंह बिना किसी रोक टोक के महाराज के जनाने महलों में भी चले जाया करते थे। जिन दिनों रणजीतसिंह रोगशय्या पर पड़े हुए मृत्यु की

बाट देख रहे थे, उन दिनों राजा ध्यानसिंह बेधड़क पीड़ित महाराज के पास चले जाया करते और उनका पुत्र हीरासिंह तो सदैव महलों में ही रहता था, जिससे रणजीतसिंह के समस्त भेदों की उनको खबर मिलती रहती थी और युवराज खड्गसिंह तथा राजकुमार शेरसिंह घड़ियों ड्योढ़ी पर खड़े रहते थे और महाराज के पास नहीं पहुँचने पाते थे। महाराज खड्गसिंह ने राजसिंहासन पर विराजते ही ध्यानसिंह का महलों में जाना बंद करा दिया। यह बात ध्यानसिंह को बुरी लगी। बस यहीं से महाराज रणजीतसिंह के साम्राज्य में फूटरूपी दीमक का प्रारंभ हुआ। वे प्रायः गुप्त रूप से राजकार्य्य पर महाराज से परामर्श किया करते थे, यह बंद हो गया। चेतसिंह नामक एक और व्यक्ति ने खड्गसिंह के दुर्बल हृदय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। महाराज खड्गसिंह चेतसिंह के हाथ की कठपुतली बन गए। चेतसिंह की सम्मति से वे बहुत से कार्य्य करने लगे, ध्यानसिंह भी इन बातों से असावधान नहीं थे, वे खड्गसिंह की उखाड़ पुखाड़ करने लगे। खड्गसिंह ने चेतसिंह को वजीर के पद तक पहुँचा दिया। कहते हैं ध्यानसिंह की हत्या का भी षड्यंत्र रचा गया था, जिसका भेद खुल गया। ध्यानसिंह भी बड़े चलते पुर्जा थे। उस समय सिक्ख साम्राज्य मे उनकी असाधारण शक्ति थी। राई से पर्वत करने की उनमें विलक्षण शक्ति थी। उन्होंने सिक्खों में खड्गसिंह के संबंध में यह अफवाह फैलाई कि "खड्गसिंह ने अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली है और उनको एक रुपए पर छः आना कर (टैक्स) देना भी स्वीकार कर लिया है। खड्गसिंह अँग्रेजों की सहायता से सिक्ख सेना और सिक्ख सरदारों को हटाना चाहता है। सिक्खों के स्थान में अँग्रेज अफसर रक्खे जायँगे।" ध्यान-

सिंह का यह मोहनी मंत्र सिक्खों में काम कर गया, और यहाँ तक काम कर गया कि महाराज खड्गसिंह की महारानी चंदकौर और राजकुमार नौनिहालसिंह तक इस मोहनी मंत्र से मोहित हो गए थे। उन दिनों कुँवर नौनिहालसिंह पेशावर में थे, वे वहाँ से ध्यानसिंह के भाई राजा गुलाबसिंह के साथ लाहौर आए। मार्ग में गुलाबसिंह ने उसे महाराज खड्गसिंह के विरुद्ध और भी उभाड़ दिया। इस भाँति ध्यानसिंह ने खड्गसिंह के प्रति उनकी पत्नी और बेटे नौनिहालसिंह तक को विरुद्ध कर दिया। इतना करके ही ध्यानसिंह चुप नहीं रहे, उन्होंने खड्गसिंह को राज्यच्युत करने की चेष्टा की। एक दिन ध्यानसिंह अपने दोनों भाई गुलाबसिंह, सुचेतसिंह और सिंधोवाल सरदारों के साथ किले में सूर्योदय से दो घंटे पहले गए, और खड्गसिंह के सोने के कमरे में पहुँचे। मार्ग में खड्गसिंह के कुछ सेवकों ने राजा ध्यानसिंह का सामना किया, जो वहीं मार दिए गए। सारा दल महाराज खड्गसिंह के सोने के कमरे में घुस गया। वहाँ पर पहरेवालों ने ध्यानसिंह के दल का सामना करना चाहा, पर ध्यानसिंह को देखते ही वे पीछे हट गए। युवराज नौनिहालसिंह और उनकी माँ चंदकौर भी ध्यानसिंह के साथ ही साथ खड्गसिंह के कमरे में इस लिये हो लिए कि वे खड्गसिंह को कुछ शारीरिक हानि न पहुँचाने पावे। अचानक * खड्गसिंह अपने को ध्यानसिंह के फंदे में

---

* कई इतिहासलेखकों ने लिखा है—"अंग्रेज एजेंट कर्नल वेड ने राजा खड्गसिंह और चेतसिंह का पक्ष लिया था। किसी ने लिखा है कि कुंवर नौनिहालसिंह की प्रार्थना पर ही अंग्रेजों ने कर्नल वेड को लाहौर से हटा कर कर्नल क्लार्क को उनके स्थान पर भेजा था।

फँसा देख कर विस्मित हुए। परंतु अपना वश चलता हुआ न देख कर वे कुछ न कर सके। चेतसिंह ख्वाबगाह में घुस गया, ध्यानसिंह ने उसको वहाँ से पकड़ कर बाहर निकाल लिया और उसके पेट में दो चार बार चाकू घुसेड़ उसे मार डाला। ध्यानसिंह ने चेतसिंह के साथियों की भी वहीं हत्या कर डाली। यह घटना आठवीं अक्तूबर सन् १८३९ को हुई थी।

यद्यपि इस घटना के पश्चात् मृत्यु पर्य्यन्त खड्गसिंह नाम मात्र का राजा रहा था, तथापि उसने केवल तीन मास राज्य किया था। इस घटना के पश्चात् खड्गसिंह दुर्ग में न रह कर नगरवाले अपने भवन में रहने लगा और अंत समय तक वहीं रहा।

---

(२) रक्त का सूत्रपात

"अपने बल सों लावहिं, यद्यपि मारि सिकार।
तदपि सुखी नहिं होत हैं, राजसिंह कुमार" ॥

—भारतेंदु हरिश्चंद्र।

राजसिंहासन से महाराज खड्गसिंह के हटाए जाने के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक १८–२० वर्ष के नवयुवक राजकुमार नौनिहालसिंह ने विशाल सिक्ख साम्राज्य का शासन किया था। कुँवर नौनिहालसिंह बड़ा होनहार, प्रतिभाशाली और विलक्षण बुद्धिसंपन्न था। प्रायः सभी ने उसकी अनोखी बुद्धि की प्रशंसा की है। राजस्थान ध्रुवतारा महाराज प्रतापसिंह के संबंध में कहा जाता है कि यदि महाराणा संग्रामसिंह और प्रतापसिंह के बीच में उदयसिंह न होते तो कभी मेवाड़ का सौभाग्य सितारा अस्त न होता। ऐसी ही कल्पना कुँवर नौनिहालसिंह के संबंध में की जाती है। कुँवर नौनिहालसिंह दूसरे रणजीतसिंह थे।

जम्मू के राजा ध्यानसिंह तथा गुलाबसिंह पहले से ही बहुत बढ़े चढ़े थे। महाराज खड्गसिंह को नजरबंद करने तथा चेतसिंह की हत्या ने उनके मिजाज को और भी आसमान पर चढ़ा दिया।* राज्य की बागडोर हाथ में लेकर कुँवर नौनिहालसिंह को भी जम्मू नरेशों की बढ़ती हुई शक्ति को दमन करने के लिये चिंतित होना पड़ा था। राज्य में उस समय और भी कई प्रकार के विरोधी दल खड़े हो गए थे। ब्रिटिश एजेंट

---

* राजा ध्यानसिंह और नौनिहालसिंह की पहले से ही लाग डाट चली आती थी। राजा ध्यानसिंह कुँवर नौनहालसिंह से बड़े ही शंकित रहते थे।

क्लार्क को नौनिहालसिंह की जम्मू नरेशों को दमन करने तथा विरोधी दलों के शांत करने की चेष्टा में भी अनोखा संदेह सूझ पड़ा। कुँवर नौनिहालसिंह की इस चेष्टा में अंग्रेज एजेंट क्लार्क भी अपने पूर्वाधिकारी कर्नल वेड की भाँति ही बाधक हुए। उन्हें कुँवर नौनिहालसिंह की इस चेष्टा में अंग्रेजों के प्रति षड्यंत्र का भूत दिखलाई पड़ने लगा। क्लार्क साहब यह प्रमाणित करना चाहते थे कि कुँवर नौनिहालसिंह अफ़गान प्रजा को अंग्रेजों के प्रति उभाड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। पर कुँवर नौनिहालसिंह ने क्लार्क साहब के इस कथन को मिथ्या सिद्ध करके अपने को इस कलंक के मुक्त कर दिया। इन सब झंझटों में फँसे रहने के कारण कुँअर नौनिहालसिंह जम्मू नरेशों की बढ़ती हुई क्षमता को घटाने में समर्थ नहीं हो सके थे कि अचानक उनके प्राण लेनेवाली एक अनर्थकारी घटना उपस्थित हो गई, जिसके कारण पंजाब का आशा प्रदीप बुझ गया। सिक्ख जिस कुँवर नौनिहालसिंह में दूसरे रणजीतसिंह को देखना चाहते थे, वही कुँवर नौनिहालसिंह चल बसे। सिक्खों की आशा पर पानी फिर गया।

* ५ वीं नवंबर सन् १८४० को महाराज खड्गसिंह का देहांत हो गया। जब खड्गसिंह की अंत्येष्टि क्रिया हो रही थी

---

* राजा ध्यानसिंह ने, बाप बेटे महाराज खड्गसिंह और कुंवर नौनिहालसिंह के मन एक दूसरे से इतने फेर दिए थे कि मरते समय खड्गसिंह अपने पुत्र नौनिहालसिंह से मिलना चाहते थे, परंतु जो लोग खड्गसिंह के रखवारी के लिये नौकर थे, उन्होंने नौनिहालसिंह से जाकर कहा—"तेरा बाप तुझे मरते समय

तब कुँवर नौनिहालसिंह वहाँ से चल पड़े। * मार्ग में एक दरवाजा गिरने से कुँवर नौनिहालसिंह पंजाबवासियों को रुला

कोस रहा है'। नौनिहालसिंह बाप के मरते समय भी उसके पास नहीं गए। कुँवर उस समय शिकार खेल रहे थे, मरने की खबर सुनकर दो घंटे पीछे वहाँ से गए। खड्गसिंह की अंत्येष्टि क्रिया हुई, उनके साथ दो रानियाँ और ११ दासियाँ सती हुईं। एक रानी के विषय में स्मिथ साहब लिखते हैं—"यह युवती बहुत सुंदर, बाईस वर्ष की अवस्था की थी"।

* उस समय कुंवर नौनिहालसिंह के साथ राजा गुलाबसिंह का बड़ा बेटा उत्तमसिंह था। अचानक दरवाज़ा गिर पड़ा, उत्तमसिंह तो वहीं मर गया, पर कुँवर के इतनी चोट आई कि वे वहीं बेहोश हो गए। मेजर मेकग्रेगर (Major Mecgregor) ने लिखा है—"उत्तमसिंह और कुँवर एक ही हाथी पर थे", पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य इतिहासलेखकों ने लिखा है—"कुँवर नौनिहालसिंह और उत्तमसिंह दोनों हाथ मिलाए साथ साथ पैदल आ रहे थे। डाक्टर होनिगबर्गर अपनी आँखों देखा हुआ वृत्तांत लिखता है—"मंत्री ध्यानसिंह के हाथ में भी गहरी चोट आई थी, जिसका स्वयं मैंने इलाज किया था। राजकुमार का सिर चकनाचूर हो गया, ध्यानसिंह घायल कुँवर को पालकी में उठवा कर दुर्ग में ले गए। सरदार लहनासिंह मजीठिया ने साथ चलना चाहा, पर उसको रोक दिया गया। कोई सरदार पीड़ित नौनिहालसिंह के पास नहीं पहुँचने पाया। घायल

कर इस संसार से कूच कर गए। दरवाजे के गिरने का कारण आज तक किसी पर प्रकट नहीं हुआ। प्रायः अभी इतिहास-लेखकों ने इस दरवाजे के गिरने का कलंक जम्मू के राजाओं पर ही मढ़ा है और यह सम्भव भी है कि जम्मू के राजाओं ने कुँवर नौनिहालसिंह को इस भाँति हत्या करके अपनी उन्नति के मार्ग से कंटक को दूर करने की चेष्टा की हो। जो कुछ हो। इस आकस्मिक घटना से रणजीतसिंह के स्थापित किए हुए विशाल साम्राज्य का भविष्य अंधकारमय हो गया।

राजकुमार की माता ने किले की दीवालों से सिर दे मारा, हृदय विदीर्ण करनेवाला रोदन किया पर सब व्यर्थ हुआ। राजा ध्यानसिंह अपने तीन आदमियों के साथ कुँवर नौनिहालसिंह के पास रहे। कुँवर की रानियाँ भी भीतर नहीं जाने पाईं। दो घंटे पीछे, कुँवर की माता रानी चंदकौर को अपने प्राण प्यारे पुत्र के मरने की खबर मिली। ध्यानसिंह ने कुँवर नौनिहालसिंह की माता चंदकौर से कहा—"यदि आप गद्दी चाहती हैं तो कुँवर की मृत्यु छिपा रखिएगा, जब तक मैं न कहूँ तब तक प्रगट न कीजिएगा"। रानी ध्यानसिंह के कथन से सहमत हुई, तीन दिन तक कुँवर नौनिहालसिंह की मृत्यु का समाचार गुप्त रखा गया। शेरसिंह के आने पर यह समाचार प्रकट किया गया।

(देखो लतीफ कृत पंजाब का इतिहास)

(३) पारस्परिक अग्निवर्षा

"दोऊ सचिव विरोध सो, जिमि वन जुग गजराय।
हथिनी सी लक्ष्मी विचल, इत उत झोंका खाय॥"
—भारतेंदु हरिश्चंद्र।

जम्मूनरेश राजा ध्यानसिंह विशाल सिक्ख साम्राज्य के सर्वस्व कर्त्ता, कर्त्ता विधाता आप ही बनना चाहते थे। इसलिये उसने सिक्खों में भेद नीति का प्रचार कर के ही, सिक्ख साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ मे लेनी चाही थी। कुँवर नौनिहालसिंह की मृत्यु के पश्चात् राजा ध्यानसिंह सोचने लगे कि ऐसे व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठना चाहिए जो सदैव उनके हाथ का खिलौना बना रहे। चारों ओर निगाह दौड़ाने पर ध्यानसिंह को शेरसिंह के अतिरिक्त ऐसा और कोई आदमी नजर न आया जो विशाल सिक्ख साम्राज्य का अधिपति हो कर भी राजा ध्यानसिंह के हाथ की कठपुतली बनता। दूरदर्शी ध्यानसिंह ने सोचा कि कुँवर नौनिहालसिंह की माता चंदकौर को राजसिंहासन पर बैठाने पर जम्मू नरेशों की दाल नहीं गल सकेगी; क्योंकि महारानी चंदकौर के समय में सिंधांवलों के सामने जम्मू नरेशों के अधिकार बढ़ाने न पावेंगे। बस इसी खोटी बुद्धि के वशीभूत होकर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये राजा ध्यानसिंह ने शेरसिंह को ही गद्दी पर बिठलाना चाहा।

इधर महारानी चंदकौर भी अपने पति और पुत्र के राजसिंहासन को छोड़ने के लिये तैयार नहीं हुई। उस वीरमाता और वीरपत्नी ने प्रण किया कि "सूच्याग्रं न दास्यामि विना युद्धेन केशव"। महाराणी की इस अटल प्रतिज्ञा को देख कर

कर इस संसार से कूच कर गए। दरवाजे के गिरने का कारण आज तक किसी पर प्रकट नहीं हुआ। प्रायः अभी इतिहास-लेखकों ने इस दरवाजे के गिरने का कलंक जम्मू के राजाओं पर ही मढ़ा है और यह सम्भव भी है कि जम्मू के राजाओं ने कुँवर नौनिहालसिंह को इस भाँति हत्या करके अपनी उन्नति के मार्ग से कंटक को दूर करने की चेष्टा की हो। जो कुछ हो। इस आकस्मिक घटना से रणजीतसिंह के स्थापित किए हुए विशाल साम्राज्य का भविष्य अंधकारमय हो गया।

राजकुमार की माता ने किले की दीवालों से सिर दे मारा, हृदय विदीर्ण करनेवाला रोदन किया पर सब व्यर्थ हुआ। राना ध्यानसिंह अपने तीन आदमियों के साथ कुँवर नौनिहालसिंह के पास रहे। कुँवर की रानियाँ भी भीतर नहीं जाने पाईं। दो घंटे पीछे, कुँवर की माता रानी चंदकौर को अपने प्राण प्यारे पुत्र के मरने की खबर मिली। ध्यानसिंह ने कुँवर नौनिहालसिंह की माता चंदकौर से कहा—"यदि आप गद्दी चाहती हैं तो कुँवर की मृत्यु छिपा रखिएगा, जब तक मैं न कहूँ तब तक प्रगट न कीजिएगा"। रानी ध्यानसिंह के कथन से सहमत हुई, तीन दिन तक कुँवर नौनिहालसिंह की मृत्यु का समाचार गुप्त रखा गया। शेरसिंह के आने पर यह समाचार प्रकट किया गया।

(देखो लतीफ कृत पंजाब का इतिहास)

(३) पारस्परिक अग्निवर्षा

"दोऊ सचिव विरोध सो, जिमि वन जुग गजराय।
हथिनी सी लक्ष्मी विचल, इत उत झोंका खाय॥"

—भारतेंदु हरिश्चंद्र।

जम्मूनरेश राजा ध्यानसिंह विशाल सिक्ख साम्राज्य के सर्वस्व कर्त्ता, कर्त्ता विधाता आप ही बनना चाहते थे। इसलिये उसने सिक्खों में भेद नीति का प्रचार कर के ही, सिक्ख साम्राज्य की वागडोर अपने हाथ मे लेनी चाही थी। कुँवर नौनिहालसिंह की मृत्यु के पश्चात् राजा ध्यानसिंह सोचने लगे कि ऐसे व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठना चाहिए जो सदैव उनके हाथ का खिलौना बना रहे। चारों ओर निगाह दौड़ाने पर ध्यानसिंह को शेरसिंह के अतिरिक्त ऐसा और कोई आदमी नजर न आया जो विशाल सिक्ख साम्राज्य का अधिपति हो कर भी राजा ध्यानसिंह के हाथ की कठपुतली बनता। दूरदर्शी ध्यानसिंह ने सोचा कि कुँवर नौनिहालसिंह की माता चंदकौर को राजसिंहासन पर बैठाने पर जम्मू नरेशों की दाल नहीं गल सकेगी; क्योंकि महारानी चंदकौर के समय से सिंधांवलों के सामने जम्मू नरेशों के अधिकार बढ़ाने न पावेंगे। बस इसी खोटी बुद्धि के वशीभूत होकर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये राजा ध्यानसिंह ने शेरसिंह को ही गद्दी पर विठलाना चाहा।

इधर महारानी चंदकौर भी अपने पति और पुत्र के राजसिंहासन को छोड़ने के लिये तैयार नहीं हुई। उस वीरमाता और वीरपत्नी ने प्रण किया कि "सूच्यग्रं न दास्यामि विना युद्धेन केशव"। महाराणी की इस अटल प्रतिज्ञा को देख कर

राजा * ध्यानसिंह जम्मू चले गए और वहीं से वे सिक्ख सेना को शेरसिंह के पक्ष में करने लगे। कुछ सरदार रानी के पक्ष में भी थे। ध्यानसिंह का बड़ा भाई गुलाबसिंह रानी का सहायक था। दोनों ओर युद्ध की तैयारी हो रही थी। ध्यानसिंह ने शेरसिंह को उसकी जागीर पर भेज दिया और स्वयं जम्मू पहुँच कर वे अपनी सफलता के निमित्त प्रयत्न करने लगे; किंतु शेरसिंह के एक प्रबंधकर्त्ता ज्वालासिंह नाम धारी एक व्यक्ति के हृदय में भी सिक्ख साम्राज्य के मंत्री होने की महत्वाकांक्षा हिलोरें ले रही थी। उसने ध्यानसिंह से पूर्व ही सिक्ख सेना को अपने स्वामी शेरसिंह के पक्ष में कर लिया और उसने चाहा कि बिना राजा ध्यानसिंह की सहायता के ही शेरसिंह को राजसिंहासन पर बैठावे। इस बीच में ध्यानसिंह ने भी शेरसिंह को

---

* किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है कि खड्गसिंह के गद्दी पर बैठते ही शेरसिंह ने अपने को पंजाबकेसरी का ज्येष्ठ पुत्र कह कर राज्य पाने की चेष्टा की थी और इस विषय में उसने अँग्रेजों को भी लिखा था, पर वास्तव में शेरसिंह रणजीतसिंह का औरस पुत्र नहीं था। किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है—"उस समय कुँवर नौनिहालसिंह की पत्नी गर्भवती थी, चंदकौर ने मृत पुत्र की संभावित संतान के अर्थ गद्दी की रक्षा करना उचित समझा। थोड़े दिन पीछे नौनिहालसिंह की स्त्री को मृतक पुत्र हुआ। कोई कोई इतिहासलेखक लिखते हैं कि रानी का प्रबल पक्ष देख कर ध्यानसिंह ने रानी के अधीन एक शासन सभा बनाई जिसमें शेरसिंह को प्रधान रखा।

लाहौर जाने के लिये लिख दिया। पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की वीरवाहिनी सिक्ख सेना ने शेरसिंह को सिक्ख साम्राज्य का अधीश्वर स्वीकार किया। राजनियम के अनुसार सेना के योद्धाओं ने शेरसिंह को भेंट नजरें) दीं, तोपों की सलामी दी और राजा होने के उपलक्ष्य में बधाइयाँ दीं।

शेरसिंह ने सिक्ख सेना सहित पौ फटने से पहले ही राजधानी लाहौर में प्रवेश किया। उधर गुलाबसिंह तथा अन्य सरदार भी असावधान नहीं थे, उन्होंने दुर्ग की सेना से दुर्ग तथा रानी की रक्षा के लिये, प्राणों की बाजी लगाने की कठोर प्रतिज्ञा कराई। दुर्ग के भीतर प्रत्येक योद्धा ने दुर्ग तथा रानी की रक्षा के लिये शपथ ग्रहण की।

प्रातःकाल का समय था। अनेक लाहौर निवासी शैय्या पर पड़े आँखें मल रहे थे। पूरी तरह से उनकी नींद नहीं खुलने पाई थी। सूर्य्योदय नहीं हुआ था कि समस्त नगर "वाह गुरुजी की फतह" की आवाज से गूँज उठा। लगभग साठ सत्तर हजार सिक्ख सेना ने दुर्ग पर आक्रमण किया। जैसे समुद्र की लहरें पर्वत से टकराती हैं, वैसे ही सिक्ख सेना लाहौर दुर्ग से टक्कर खाने लगी, दोनों ओर से तोपें दगनी शुरू हुईं। दोनों ओर से अग्निवर्षा होने लगी। दुर्ग द्वार इस अग्निवर्षा से ठहर न सका, वह जल्दी स्वाहा हो गया। जो उनतालीस मनुष्य दुर्गद्वार की रक्षा का भार लिए हुए थे, उनमे से दो को छोड़ कर शेष सब भूतलशायी हुए। दस मिनट मे ही लाशों का ढेर लग गया।

* विना विराम और विश्राम के दोनों ओर से पाँच दिन

---

* सच्चे वीर स्त्रियों पर कभी हाथ नहीं उठाते हैं। कहते हैं

तक लगातार अग्निवर्षा होती रही। इस बीच मे सिक्खों ने सुरंग लगा कर दुर्ग को उड़ाना चाहा, पर वे कृतकार्य्य नहीं हुए। शेरसिंह ने गुलाबसिंह के पास संधि का सदेश भेजा, पर उसने यही उत्तर दिया कि* "ध्यानसिंह के बिना आए, मैं कुछ भी नहीं कर सकता।" इस बीच † में ध्यानसिंह भी जम्मू से आ गए और संधि विषयक प्रस्ताव उपस्थित हुआ।

यह सोचकर सिक्ख सेना ने लगभग एक हजार स्त्रियों और वेश्याओं को अपनी तोपों के पहियों से बाँध लिया था, परतु दुर्ग में डोगरा राजपूतों की जो सेना थी उसने इस ढंग से निशाने मारे कि वे सिक्ख सेना के वीरों को ही लगते थे, स्त्रियों को नहीं। एक हजार स्त्रियों में से केवल १९ स्त्रियाँ मारी गईं। काश्मीर की ओर डोगरा एक क्षत्रिय जाति होती है। राजा गुलाबसिंह और ध्यानसिंह इसी जाति के थे।

* कई इतिहासलेखकों ने स्पष्ट लिखा है कि यह सब बखेड़ा ध्यानसिंह और गुलाबसिंह दोनों भाइयों का ही मचाया हुआ था। सिक्खों में चरेजे की रीति अर्थात् विधवाविवाह प्रचलित है, इसको चद्दर डालना कहते हैं। चद्दर डालने की रीति के अनुसार शेरसिंह और रानी चदकौर परस्पर विवाह करने को तैयार थे, पर राजा ध्यानसिंह और गुलाबसिंह की कुटिल नीति के कारण ही दोनों में बखेड़ा हुआ।

† शेरसिंह का गुलाबसिंह के प्रति संधि का प्रस्ताव उपस्थित करने का यही कारण था कि वह ध्यानसिंह द्वारा राजसिंहासन पर

रानी चंदकौर की ओर से गुलाबसिंह ने चार शर्तों पर दुर्ग खाली करने का प्रस्ताव उपस्थित किया। पहली शर्त यह थी, कि रानी चदकौर को नौ लाख रुपये की जागीर जम्मू के पहाड़ी प्रदेशों के निकट मिले। दूसरी शेरसिंह "चद्दर डालने" की रीति से महाराणी चंदकौर से विवाह करने को तैयार न हों, तीसरी यह कि दुर्ग की सेना दुर्ग और राजधानी से निशान उड़ाती हुई बाहर चली जाय, पर उस पर कोई आक्रमण न करे। चौथी यह कि इन तीनों शर्तों की रक्षा के लिये कुछ जमानत चाहिए।

लगातार छ दिन के युद्ध के पश्चात् ये शर्तें स्वीकार हुईं। सिक्ख सेना को इस युद्ध में हानि भी बहुत हुई। सिक्खों की ओर से इस युद्ध में ३७८६ आदमी, ६१० घोड़े और ३२० बैल मारे गए थे। दुर्ग की सेना के १३० मनुष्य मारे गए। गुलाबसिंह और रानी चंदकौर ने दुर्ग के सिपाहियों को युद्ध स्वरूप यथेष्ट पुरस्कार दिया था। दुर्ग खाली करते समय राजा गुलाबसिंह ने बहुत सा धन, अनेक अमूल्य रत्न, हीरा, पन्ना आदि ले लिये थे। इतने भारी उत्पात और रक्त की ऐसी नदी बहाकर * शेरसिंह

आसीन न समझा जावे। कहते हैं, ध्यानसिंह शाहदरे के पास आ कर शिकार खेलता था, जब शेरसिंह ने बिना उसके परामर्श के युद्ध करने के लिये क्षमा माँगी, तब वह आया।

* किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है कि अंग्रेजों ने भी शेरसिंह का राजा होना स्वीकार किया था। शेरसिंह के राजा होने के पीछे चार दासियों ने महारानी चदकौर का वध कर डाला। कोई कोई इतिहासलेखक लिखते हैं कि चंदकौर की हत्या, शेरसिंह की अनुमति से ही हुई थी।

ने सन् १८४१ की १८ वीं जनवरी को पंजाब का राजमुकुट ग्रहण किया।

शेरसिंह ने चारों दासियों को पाँच पाँच हजार की जागीरें देने का वचन दिया था। उक्त दासियों ने एक दिन अपनी स्वामिनी रानी चंदकौर का सिर बाल गूंथते समय ईंटों से फाड़ डाला, जिससे उसकी मृत्यु हुई।

(४) हत्या कांड

"उचितमनुचितं वा कुर्वते कार्यजातं ।
न तदपि परितापं यांति धृष्टाः कदापि ॥"

जो सिक्ख जाति अब तक धर्म को वेदी पर प्रेमपूर्वक बलिदान होती थी, धर्म के निमित्त जो सिक्ख मृत्यु को बाँये हाथ का खेल समझते थे, हाय ! आज स्वार्थ के कारण उसी सिक्ख जाति के भाव इतने परिवर्त्तित हो गए कि वे अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये आपस में ही रक्त के प्यासे हो गए। वीर सिक्खों की जो तलवार अपने वैरियों के रक्त से प्यास बुझातो थी, वही आज अपने भाइयों के खून से शांति प्राप्त करने लगी। पंजाब-केसरी रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्ख साम्राज्य के प्रधान प्रधान सरदारों से लेकर छोटे छोटे कर्म्मचारियों के हृदय मे स्वार्थ की मात्रा बढ़ चली थी। एक समय जो वीरवाहिनी सेना पराक्रमी अफ़गानों तक की छाती अपनी वीरता से दहलाती थी, आज वह पारस्परिक विद्वेष से एक दूसरे के प्राण लेने को उतावली हो रही थी। समय की यह विचित्र गति है।

शेरसिंह विशाल सिक्ख साम्राज्य का अधीश्वर अवश्य हुआ, पर उसमे इतने विशाल साम्राज्य की परिचालना की शक्ति न थी। दूसरे राजसिंहासन पाते ही वह भोग विलास में डूब गया। सिक्खों को शेरसिंह को राजा बनाने में शीघ्र ही अपनी भूल का अनुभव हुआ। वीरवाहिनी सिक्ख सेना अनुभव करने लगी कि पंजाबकेसरी रणजीतसिंह के पवित्र राजसिंहासन के लिये शेरसिंह कदापि योग्य नहीं है। दूसरे

राजा ध्यानसिंह और शेरसिंह दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति घोर अविश्वास, असंतोष और संशय उत्पन्न हो गया। वे दोनों ही एक दूसरे के पंजे से निकल कर अपने अपने स्वार्थ साधन की चिंता करने लगे। इस बीच में शेरसिंह ने एक और भी मूर्खता का काम किया कि लहनासिंह सिधांवाले को कैद कर दिया। अतरसिंह और उसका भतीजा अजीतसिंह भाग कर सतलज इस पार अंग्रेजी राज्य में चले आए। भाई रामसिंह की चेष्टा से लहनासिंह का कैद से छुटकारा हुआ। उसके अनुरोध से अतरसिंह और अजीतसिंह फिर पंजाब में बुला लिए गए। किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है कि अंग्रेजों के अनुरोध से महाराज शेरसिंह ने सिधांवालों को अपने राज्य में बुला लिया था। भला ध्यानसिंह इस अवसर को क्यों चूकने लगे, उन्होंने सिधांवालों को शेरसिंह के विरुद्ध पट्टी पढ़ाना आरंभ किया, और उनको शेरसिंह के वध करने के लिये उभाड़ा। कहते हैं ध्यानसिंह ने सिधांवालों को शेरसिंह की हत्या करने के लिये बहुत कुछ पारितोषिक देने का वचन भी दिया था।

एक दिन लहनासिंह और अजीतसिंह दोनों ने महाराज शेरसिंह के पास जा कर राजा ध्यानसिंह के षड्यंत्र की बात सुनाई। शेरसिंह, ध्यानसिंह के षड्यंत्र की बात सुनकर तनिक भी विचलित नहीं हुआ। कहते हैं, उन्होंने अपनी तलवार दोनों सिधांवालों के सामने रख कर कहा कि "यदि आप लोग मुझे मारने के लिये आए हैं, तो इस तलवार से मुझे कत्ल कर डालिए, पर स्मरण रखिएगा कि एक दिन ध्यानसिंह आप लोगों को भी इसी तरह कतल करा डालेगा।" शेरसिंह का यह वाक्य सुन कर सिंधांवालों ने उसे दम दिलासा दिया और मंत्री ध्यान-सिंह के लिये उससे एक आज्ञा-पत्र लिखवा लिया। सिंधांवाले

महाराज से मंत्री के वध का आज्ञापत्र ले कर मंत्री के पास पहुँचे, उन्होंने जिस ढंग से महाराज से बातचीत की, उसी ढंग से उन्होंने मंत्री से बातचीत की और मंत्री से महाराज के वध का आज्ञापत्र लिखवा लिया। महाराज और मंत्री दोनों इस तरह से एक दूसरे की हत्या के षड्यंत्र में प्रवृत्त हुए, दोनों ही सिधांवालों के हाथ की कठपुतली बन गए।

इस तरह से षड्यंत्र रच कर सिंधांवाले अपने उद्देश्य साधन की चेष्टा करने लगे। थोड़े ही दिन पीछे सिधांवाले पाँच छ सौ सवारों सहित राजधानी लाहौर में पहुँचे। ध्यानसिंह उन दिनों बीमारी का बहाना किये हुए अपने घर बैठे हुए थे। * महीने की पहली तिथि थी। उस दिन दरबार न था। शेरसिंह कुश्ती देख

---

* किसी किसी इतिहासलेखक ने लिखा है—'मृत्यु के दिन शेरसिंह शहर से प्रातःकाल ही चल दिया था। ध्यानसिंह, दीवान दीनानाथ और उनका शरीर रक्षक बुधसिंह उनके साथ थे। इस घटना के संबंध में डाक्टर होनिबर्गर अपनी पुस्तक "Adventures in the East" में लिखता है—"मैं घटनास्थल से दस कदम की दूरी पर था और पाँच मिनट पहले बाग में एक वृक्ष के नीचे महाराज से बातें की थीं। जहाँ पर उन्होंने मुझसे अपने लौटने तक ठहरने को कहा। हमारी बातचीत बारूद की एक मिल के संबंध में हुई थी, जिसके बनाने की मुझे ध्यानसिंह ने आज्ञा की थी। शेरसिंह ने रविवार के दिन अर्थात् अपनी हत्या के चार दिन पूर्व कारखाने का निरीक्षण किया था, और उसको देख कर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने दो सोने के कंकण अपने हाथ से मुझे पहना दिए थे। नौ सौ रुपया मासिक जो वेतन मुझे मिलता था उसके अतिरिक्त

कर पहलवानों को पारतोषिक दे रहे थे कि इतने में सिंधांवाले आ गए। महाराज शेरसिंह उनसे बहुत अच्छी तरह मिले। अजीतसिंह सिंधांवाले ने शेरसिंह के सामने जा कर हँसते हँसते कहा—"देखिए महाराज, मैंने चौदह सौ रुपये में कैसी सस्ती और अच्छी बंदूक मोल ली है, यदि कोई तीन हजार देगा तो भी मैं इसको नहीं बेचूँगा"। महाराज ने बदूक लेने के लिये हाथ बढ़ाया कि अजीतसिंह ने उसकी छाती पर बदूक छोड़ दी। बदूक के लगते ही शेरसिंह के प्राण पखेरू उड़ गए। केवल उस समय उनके मुँह से इतना ही निकला कि "यह कैसा दगा"?

घातक लोग केवल शेरसिंह का ही वध करके चुप नहीं हुए। उन्होंने शेरसिंह के पुत्र कुँवर प्रतापसिंह की, जो तेरह चौदह वर्ष का था, हत्या की। प्रतापसिंह उस समय अपने इष्टदेव की पूजा में मग्न था। वह बड़े ध्यान से गुरु की वाणियाँ

पाँच सौ रुपया और देने को उन्होंने कहा था। यह मौखिक आज्ञा थी। मैं नित्य प्रति दरबार में लिखी हुई आज्ञा लेने के निमित्त जाया करता था और कमबख्त बृहस्पतिवार को जिस दिन उसका वध हुआ था, मैं उनके साथ था।" दूसरे अंग्रेज बहादुर मैकग्रेगर ने लिखा है—"अजीत-सिंह ने शेरसिंह को दुनली अंग्रेजी बदूक (राईफल) दिखलाते समय कहा था कि यह भरी हुई है। इस पर महाराज ने अजीतसिंह के एक नौकर से उस बंदूक को चलाने के लिये कहा। अजीतसिंह ने अपने नौकर को महाराज के मारने के लिये इशारा कर दिया। उसने बंदूक शेरसिंह पर छोड़ दी।

सुन रहा था। लहनासिंह ने उस पर तलवार उठाई। बालक प्रताप ने रोते हुए, हाथ जोड़ कर अपने प्राणों को भीख माँगी, पर संगदिल लहनासिंह में दया कहाँ थी? उसने एक झटके में ही बेचारे बालक का काम वहीं तमाम कर डाला। शेरसिंह और उसके पुत्र का वध करके ये लोग मन्त्री राजा ध्यानसिंह के यहाँ पहुँचे और सब वृत्तांत उन्होंने उन्हें कह सुनाया। जम्मूनरेश राजा, ध्यानसिंह मन ही मन पुलकित हो कर दुर्ग में पहुँचे और राज्य के प्रबंध को व्यवस्था कर ही रहे थे कि सिधांवालों से किसी ने पूछा कि कहिए अब राजा कौन हो? ध्यानसिंह ने कहा—"सिवाय दिलीपसिंह के राजा और कौन हो सकता है?" बस इस पर सिंधांवालों ने यह कहते हुए, वाह! क्या खूब। मेहनत हम करें और दिलीपसिंह राजा और आप मंत्री हों, ध्यानसिंह को गोली मार दो। बस इस तरह से एक दूसरे के प्रति अविश्वास और संशय होने के कारण एक दिन महाराज शेरसिंह और ध्यानसिंह, एक दूसरे के प्रति षड्यन्त्र रचने के कारण मारे गए।

सिंधांवाले केवल ध्यानसिंह को मार कर ही संतुष्ट नहीं हुए। वे शेरसिंह के पुत्र की भाँति ध्यानसिंह के भाई सुचेतसिंह और उसके पुत्र हीरासिंह के प्राणों के भी ग्राहक बने हुए थे; पर सुचेतसिंह और हीरासिंह घटनास्थल पर नहीं थे, इसी से उनके जीवन की रक्षा हुई। राजा हीरासिंह अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुन कर शोक से अधीर हो गए। पर पीछे उन्होंने यह प्रतिज्ञा को कि जब तक मैं अपने पिता के घातक से बदला न ले लूँगा तब तक मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा"। हीरासिंह को अपनी प्रतिज्ञा में पूर्ण करने में विलंब नहीं हुआ; क्योंकि प्रथम तो राजा ध्यानसिंह ही अपनी विचित्र

राजशक्ति के कारण, सिक्ख साम्राज्य में सर्वप्रिय हो रहे थे, दूसरे हीरासिंह ने अनेक युक्तियों से अपने पिता की पूर्व सेवाओं का स्मरण कराके खालसा सेना अपनी ओर कर ली। दुर्ग पर फिर तोपें दगनी शुरू हुईं। लहनासिंह और अजीत-सिंह दोनों मारे गए। हीरासिंह की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। पंजाब-केसरी के सिक्ख साम्राज्य में इस तरह से हत्याकांड का एक डरावना सीन समाप्त हुआ। जो खालसा सेना एक समय अपने शत्रुओं के मानमर्दन करने में अपने रक्त की नदी बहाती थी, समय की विचित्र गति के कारण, यादवों के समान पारस्परिक संग्राम में ही वह अपनी अमोघ शक्ति को नष्ट करने लगी और अपने भावी अधःपतन की शीघ्र ही सूचना देने लगी।

---

(५) विषवृक्ष की वृद्धि

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः"

—भर्तृहरि

ध्यानसिंह के घातक लहनासिंह और अजीतसिंह की हत्या हो चुकी। राजा हीरासिंह का प्रण पूरा हुआ। शहर में मुनादी पिट गई कि विशाल सिक्ख साम्राज्य के अधीश्वर महाराज रणजीतसिंह के छोटे पुत्र दलीपसिंह और राजा हीरासिंह मंत्री हुए हैं, पर इतना होने पर भी पंजाब की पवित्र भूमि के भाग्य में अपने अनेक लालों के रक्त से रंग जाने पर भी, शांति नहीं बदी थी। हम पहले कह आए हैं कि रणजीत-सिंह को अपने राज्य के स्थापित करने में ही बहुत समय लग गया था। वे अपने राज्य का ऐसा प्रचंड संगठन नहीं कर सके जिससे उनके पीछे इतने विशाल साम्राज्य के मुख्य मुख्य कार्य्यकर्त्ताओं में पारस्परिक वैरभाव, ईर्ष्या, द्वेष और अनबन न होने पाती। रणजीतसिंह के कितने ही साथियों ने उनको अपनी बराबरी से बढ़ते देखा था। रणजीतसिंह के अभ्युदय को देख कर उनके हृदय भी ईर्ष्या द्वेष से पूरित हो रहे थे। इस विद्वेषाग्नि में ऐसे लोगों ने और भी घृत की आहुति के समान कार्य्य किया। खालसा की विवेक बुद्धि नष्ट हो गई, जिसके कारण दलीपसिंह के महाराज होने तथा राजा हीरासिंह के मंत्री होने पर शांति का राज्य नहीं हो सका।

राजसिंहासन पर बैठते समय दलीपसिंह केवल पाँच वर्ष के थे, इसलिये उनकी माता महारानी जिंदा उनकी अभि भाविका नियत हुईं। राजा हीरासिंह का सलाहकार पंडित

जल्ला नामक एक व्यक्ति था। इसमें संदेह नहीं कि हीरासिंह बुद्धिमान था, कई भाषाओं का विशेषतः अंग्रेजी का अच्छा पंडित था। कहते हैं कि दरबार में पंजाब केसरी महाराज रण-जीतसिंह के सामने केवल हीरासिंह को ही बाहरी लोगों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मंत्री हीरासिंह, रानी जिंदा और अपने सलाहकार जल्ला पंडित के परामर्श से राजशासन करने लगे। इस समय पंजाब का शासन अच्छी तरह से होने लगा। हीरासिंह की शक्ति बढ़ते देख बहुत से लोग उससे भी मत्सर करने लगे। दलीपसिंह के मामा जवाहिरसिंह तथा अन्य कई सरदारों ने हीरासिंह से मंत्री पद छीन लेने की चेष्टा भी की थी, यहाँ तक कि राजा हीरासिंह के चाचा राजा सुचेतसिंह तक, हीरासिंह के विरोधी हो गए थे। परंतु हीरा सिंह ने जल्ला पंडित की सलाह से सबका दमन किया। हीरासिंह ने अपनी चतुराई से पहले खालसा सेना को प्रसन्न कर लिया था, फिर उसकी सहायता से ही अपने शत्रुओं का दमन किया। राजा सुचेतसिंह खालसा सेना से लड़ कर मारे गए। हीरासिंह और जल्ला पंडित ने जवाहिरसिंह के संबंध में अफवाह उड़ा रखी थी कि वह महाराज दलीपसिंह को अंग्रेजों को देना चाहता है। बस, हीरासिंह का यह मंत्र जादू का सा असर कर गया। खालसा सेना जवाहिरसिंह के विरुद्ध हो गई, इससे जवाहिरसिंह दब गया; परंतु फिर भी पंजाब में शांति का संचार न हुआ। सिंधाँवाले अतरसिंह से मिल कर * पिशोरासिंह और काश्मीरसिंह राज्य पाने के लिये

* पिशोरासिंह और काश्मीरसिंह रणजीतसिंह की बांदियों के पुत्र थे।

उत्पात मचाने लगे। हीरासिंह ने उनका भी दमन किया; तिस पर भी "मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की" इस कहावत के अनुसार पञ्जाब में असंतोष बढ़ता ही चला गया।

किसी सहृदय लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि असंतोष एक संक्रामक रोग है, जैसे संक्रामक रोग के परमाणु स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर उसे रोग का शिकार बना देते हैं, वैसे ही असंतोष सारे राज्य में फैल कर राजा के अच्छे कामों से भी प्रजा को अप्रसन्न कर देता है। यही दशा राजा हीरासिंह की हुई। जल्ला पंडित और हीरासिंह के संबंध में भी अनेक प्रकार की अफवाहें फैलने लगीं। जितने मुँह उतनी बातें सुनाई पड़ने लगीं। यहाँ तक अफवाह फैलने लगी कि रात्रि के समय जल्ला पंडित और हीरासिंह जबरदस्ती महारानी जिंदा को अपने पास बुलाते हैं। बस फिर क्या था। ऐसी बातों से खालसा सेना राजा हीरासिंह और जल्ला पंडित से बिगड़ गई। हीरासिंह ने मंत्रीपद छोड़ कर जम्मू को भागना चाहा; परंतु खालसा सेना ने लाहौर से निकलते ही थोड़ी दूर पर * जल्ला पंडित और हीरासिंह दोनों का वध कर डाला। जिस हीरासिंह के शासन में पञ्जाब की दशा सुधरने की आशा हुई थी, वह भी असंतोष की देवी पर बलि हुआ।

हीरासिंह की मृत्यु के पश्चात् जवाहिरसिंह के मंत्री होने में कुछ बाधा न रही। जवाहिरसिंह निश्चित रूप से मंत्री हुआ;

---

* सिक्खों ने हीरासिंह और जल्ला पंडित के शवों की बड़ी दुर्गति की थी। हीरासिंह का सिर लाहौरी दरवाजे पर लटका दिया गया और जल्ला पंडित का सिर बाजार में घुमा कर कुत्तों को खिलाया गया।

परंतु विशाल सिक्ख साम्राज्य के परिचालन की उसमें शक्ति न थी। उसके समय पंजाब में असंतोष रूपी प्रचंडाग्नि प्रज्वलित होने लगी।

सिक्ख सेना जम्मू नरेश गुलाबसिंह से पहले ही प्रसन्न नहीं थी। जवाहिरसिंह के नेतृत्व में खालसा सेना ने जम्मू नरेश गुलाबसिंह पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का एक और भी यह कारण था कि जम्मू नरेश सिक्ख साम्राज्य की अधीन प्रजा बरखजइयों को राजविद्रोह के लिये उभाड़ रहा था। सिक्ख सेना से युद्ध करने की अपनी शक्ति न देख कर उसने सिक्ख सेना को बहुत सा धन दिया। सिक्ख सेना राजा गुलाबसिंह को लाहौर ले आई, वहाँ उसने अठारह लाख रुपए देकर अपना पीछा छुड़ाया।

गुलाबसिंह को दमन करने के बाद सिक्ख सेना ने मुलतान के नए दीवान मूलराज पर भी आक्रमण किया। दीवान मूलराज खिराज (टैक्स) लाहौर दरबार को न देकर अपने को स्वाधीन प्रकट करने लगा। सिक्ख सेना ने उसका भी गर्व चूर्ण किया और उससे अठारह लाख रुपया कर वसूल किया।

जब इस प्रकार सिक्ख साम्राज्य मे अशांति चारों ओर फैल रही थी, तब एक और ऐसी घटना हुई। रणजीतसिंह के दासीपुत्र पिशोरासिंह से मंत्री जवाहिरसिंह की लाग डाट रहती थी। मंत्री जवाहिरसिंह को पिशोरासिंह से भय रहता था। राजा गुलाबसिंह इस भय को और भी बढ़ाता था। इस बीच में पिशोरासिंह ने अटक के किले को ले लिया। जवाहिर-सिंह ने पिशोरासिंह क इस बखेड़े को दूर करने के लिये सिक्ख सेना भेजी। दोनों ओर से खूब युद्ध हुआ। पिशोरासिंह परा-क्रमी था, इसलिये सेना उसको बहुत चाहती थी, अधिक सेना

उसके पक्ष में थी। यह देख कर जवाहिरसिंह के आदमियों ने उसको दम दिलासा देकर क़िला खाली करवा लिया और वे उसको बहुत अच्छी तरह से लाहौर ले आए। वह बेचारा जवाहिरसिंह की बातों में आ गया। मार्ग में जवाहिरसिंह के आदमियों ने एक रात्रि को उसे मार कर अटक नदी में फेंक दिया। जब यह समाचार खालसा सेना ने सुना तो वह आपे से बाहर हो गई। उसने पिशोरासिंह को हत्या के दंड में जवाहिरसिंह का वध करना ही उचित समझा। जवाहिरसिंह ने अपने प्राण बचाने के बहुत से उपाय किए, पर एक भी नहीं चला। जवाहिरसिंह ने भागना चाहा; परंतु खालसा सेना ने उसका वध कर पिशोरासिंह की हत्या का बदला चुका दिया।

सिक्ख साम्राज्य का अंतिम मंत्री जवाहिरसिंह था। जवाहिरसिंह की मृत्यु के पश्चात् खालसा सेना की बढ़ी हुई शक्ति को देख कर किसी को हिम्मत मंत्री होने की नहीं हुई। रानी जिंदां और राजा लालसिंह दोनों के परामर्श से राजकार्य्य होने लगा। पर सब कामों का अधिकार सेना के अधीन रहा।

सिक्ख साम्राज्य के अच्छे अच्छे रत्न आपस की फूट के कारण काल की गाल मे विलीन हो चुके थे। पर तब भी पारस्परिक फूट दूर नहीं हुई। देशद्रोही, जातिविद्वेषी नराधमों की कमी नहीं थीं। अपनी जातीयता को मटियामेट करनेवाले, कुलकलंक, नरपिशाच अपने स्वार्थ साधन की चेष्टा में लगे हुए थे। राजसिंहासन पर केवल एक अबोध बालक विराज रहा था। केवल बेचारी अबला के हाथ मे इतने बड़े साम्राज्य की बागडोर थी। सेना रणोन्मत्त हो रही थी। जिस तरह से पूर्ण चंद्रोदय के दिन समुद्र मे लहरें उठती हैं वैसी ही सिक्ख

सेना की उमंगें हिलोरें ले रही थीं। उस समय सिक्ख सेना को उमंगों को रोकना वैसा ही असंभव था, जैसा हिमालय से निकली हुई गगा को ऊपर चढ़ाना असभव है। ऐसे कुसमय में पड़ोसी राज्य, पजाबकेसरी रणजीतसिंह के साम्राज्य पर वैसी ही घात लगाए हुए थे, जैसे बिल्ली चूहे की ताक में बैठी रहती है। आइए ! पाठक !! आइए !!! आगे के परिच्छेदों मे देखें कि इस फूट का, इस रणोन्मत्त सेना का, इस घात का क्या परिणाम हुआ ?

---

(६) रणचंडी का आवाहन

"कारज उलटो होत है कुटिल नीति के जोर।
का कीजै सोचत यही जागि होहिहै भोर॥

—भारतेंदु हरिश्चंद्र।

जिन दिनों पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब एकता देवी की आराधना से विमुख हो कर घरेलू अशांति रूपी वह्नि की प्रचंड लपटों से प्रज्वलित हो रहा था, उन दिनों भारत में अंग्रेजों का भाग्य बाल-सूर्य के समान बढ़ रहा था। समय की बलिहारी है कि एक समय अँग्रेजों को यहाँ वाणिज्य की आज्ञा मिलने में कठिनाइयों से सामना पड़ा था। धीरे धीरे अपने बुद्धिबल से वे इतने बढ़ गए कि यहाँ के स्वाधीन कहे जानेवाले नरेशों को भी कठपुतली के समान नचाने लगे। अनेक राजाओं ने अपने बाहुबल को तिलांजलि दे कर अंग्रेजों के छत्र तले ही अपने भाग्य का निश्चय समझा था। यहाँवालों की आपस की फूट और विद्वेषाग्नि ने अँग्रेजों के भाग्योदय को और भी सहायता पहुँचाई थी। रणजीतसिंह के समय में अँग्रेजों के लिये पंजाब का जो द्वार बंद था, उनकी मृत्यु के पीछे विद्वेषाग्नि ने उक्त द्वार को भी भस्म करके अँग्रेजों के लिये पंजाब का निष्कंटक मार्ग खोल दिया।

सन् १६०५ के रूस-जापान के युद्ध से पहले भारतवर्ष में रूस का भय बहुत कुछ फैला हुआ था। बहुत दिनों से रूस भारतवर्ष पर दाँत गड़ाए हुए था। पाठकों को स्मरण होगा कि रूस को रोकने के लिये सन् १८१२ में अँग्रेज लोग अफगानिस्तान पर चढ़ाई करना चाहते थे। उन दिनों अफगान

राज्य से शाह सूजा को निकाल कर दोस्त मुहम्मद खाँ राज्य कर रहा था। बेचारा शाह सूजा अपने जीवन के दिवस लुधियाने में अँग्रेजों के आसरे व्यतीत कर रहा था। अँग्रेज लोग उसे ही अफगान राज्य पर बिठला कर रूस के भय से निष्कंटक होना चाहते थे। जिस समय अँग्रेजी सेना अफगानिस्तान गई थी, उस समय रणजीतसिंह जीवित थे। इस विषय में उस समय के गवर्नर जनरल और रणजीतसिंह में जो बातचीत हुई थी, उसका उल्लेख हम पीछे कर आए हैं। अँग्रेजों ने पंजाबकेसरी रणजीतसिंह के राज्य में से अँग्रेजी सेना को निकाल ले जाने तक का प्रस्ताव नहीं किया था। सन् १८३७ की २७ वीं जून को अफगान राज्य पर अँग्रेजी सेना ने अपनी विजयपताका फहरा कर शाह सूजा को गद्दी पर बिठला दिया, पीछे फिर उत्पात न होने पावे, इसकी व्यवस्था के लिये वहाँ पाँच हजार सेना की व्यवस्था करके जब अंग्रेजी सेना लौटने लगी तब रणजीतसिंह इस लोक में नहीं थे। अँग्रेजों ने पंजाब से अपनी सेना ले जाने का विचार किया। सिक्खों के मन में इससे खटका हुआ। अँग्रेजों ने भविष्य में उस राज्य से सेना न ले जाने का प्रण किया था; परंतु शीघ्र ही फिर अफगान राज्य में अँग्रेजी सेना ले जाने की आवश्यकता आ पड़ी। मेजर ब्राडफुड साहब के अधीन काबुल के शाह सुजा के परिवार को लेकर, उसके अंधे भाई जमाशाह के साथ, अंग्रेजी सेना को काबुल जाने की आवश्यकता आ पड़ी। ब्राडफुड साहब अपनी बड़ी सेना सिक्ख राज्य से ही ले जाने लगे। लाहौर दरबार ने ब्राडफुड साहब की सहायता के लिये सिक्ख सेना भेजी; पर ब्राडफुड साहब को सिक्खों की यह चाल पसंद नहीं आई। उनको इसमें भी कुछ संदेह

हुआ। उन्होंने सिक्ख सेना पर रावी नदी के मैदान में आक्रमण किया; पर इस पर भी सिक्खों ने उनको बिना किसी विघ्न बाधा के पेशावर तक पहुँचा दिया। ब्राडफुड साहब सिक्खों के विशेष विद्वेषी प्रतीत होते थे। वहाँ की शांतिप्रिय सेना को देख कर उन्होंने अटक नदी का नावों का पुल तुड़वा दिया और सिक्ख राज्य के अधीन जो अफगान थे उनको सिक्ख राज्य के विरुद्ध उभाड़ने की चेष्टा की। उन्होंने सिक्ख सिपाहियों को कैद भी किया था, पर सिक्ख सेना के फ्रेंच सेनापति आविटेवल साहब ने ब्राडफुड साहब को समझा बुझा कर यह मामला तय किया। ऐसी और भी अनेक घटनाएँ हुईं जिससे पारस्परिक संदेह बढ़ता हो गया।

अफगान राज्य पर शाह सुजा को बिठला कर और विजय प्राप्त करने पर भी अंग्रेजों को अफगानिस्तान में जिस विपत्ति से सामना करना पड़ा था, वह इतिहास के पाठकों से अविदित नहीं है। दोस्त मुहम्मद खाँ के पुत्र अकबर खाँ के विश्वासघात से बालाहिसार में रहनेवाले अंग्रेज दूत मकनाटन साहब की हत्या हुई। अंग्रेज सेना के समस्त सैनिकों को बुरी तरह से मार डाला गया। अफगानों के क्रोध से, स्त्रियाँ, बच्चे तक नहीं बच सके। केवल एक डाक्टर यह दारुण संवाद सुनाने के लिये परमात्मा की कृपा से किसी तरह से बच निकला। अंग्रेज जाति अपने अपमान को सहन नहीं कर सकती है। वह विजयी वीर की भाँति अपने अपमान का बदला लिए बिना नहीं रहती है। जब भारतवर्ष में अकबर खाँ के विश्वासघात से अंग्रेजों के रक्त की नदी के बहने का समाचार पहुँचा, तब तो अंग्रेजों के क्रोध का ठिकाना न रहा। अंग्रेजों ने एक बड़ी सेना अफगानिस्तान [भेज कर अफगानों के रक्त से वहाँ की पृथ्वी को लाल करके

स्वर्ग में अपने जातीय भाइयों की आत्मा को शांति प्रदान करने का विचार किया। इसके लिये अंग्रेजों ने सिक्ख सेना की सहायता चाही। वहाँ सिक्खों की सेना का फ्रेंच सेनापति आविटेबल अपनी अधीन सेना के अतिरिक्त, विशेष सेना नहीं दे सका। क्योंकि उसके लिये उसको सिक्ख दरबार की आज्ञा लेना जरूरी था। इसपर अंग्रेजों ने नाराज होकर लाहौर दरबार को ऐसी घुड़की दी थी मानों वह उनके अधीन था, पर लाहौर दरबार ने अंग्रेजों की माँगी हुई सेना से अधिक सेना भेज कर घुड़की का उत्तर दिया। सिक्ख सेना को सहायता से अंग्रेज अफगान राज्य में पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपनी विजयपताका फहराई; पर वहाँ ना-समझ जनरल पोलक की ना समझी से एक विचित्र घटना हुई। जब विजयी सेना बाजार आदि लूटने लगी तब जनरल पोलक ने सिक्ख सेना को उस लूट की आज्ञा नहीं दी, जिसका प्रभाव सिक्ख सेना पर बहुत बुरा पड़ा।

अफगान-युद्ध के बाद, लार्ड एलेनबरा ने सिक्खों के हृदय से विरोध भाव को पहले दूर करना चाहा, पर सिक्खों के हृदय में से पहला अविश्वास दूर नहीं हुआ। अफगान-युद्ध से पूर्व और भी कई ऐसे कारण हुए, जिससे महाबली सिक्ख अंग्रेजों की नीति से भयभीत होने लगे। सन् १८०६ में ईस्ट इंडिया कंपनी और सिक्ख राज्य में यह संधि हो चुकी थी कि सिक्ख राज्य के आसपास के स्थान में अंग्रेज अपनी छावनी नहीं बनावेंगे; पर अंग्रेजों की ओर से यह संधि भंग हुई। उन्होंने लुधियाना, फिरोजपुर आदि कई स्थानों मे, जो सिक्ख राज्य के निकट ही थे, छावनियाँ बनाना शुरू कर दिया था। सन् १८३८ में फिरोजपुर में केवल एक वर्ष के लिये छावनी बनाना

निश्चय किया था ; परंतु फिर वहाँ पर स्थायी छावनी बनाई गई, जिससे सिक्खों का अविश्वास बढ़ता ही गया। इतने में एक और ऐसी घटना हुई जिससे घाव पर नमक छिड़कने का काम हुआ। अंग्रेजों का प्रस्ताव था कि पंजाबकेसरी रणजीतसिंह के पौत्र की मृत्यु के पश्चात् पेशावर, काबुल के शाह सुजा को दे दिया जाय। ऐसी ही अनेक बातें "मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की" इस कहावत के अनुसार सिक्खों के मन में आशंका उत्पन्न करनेवाली होती गईं। सन् १८४३ में मेजर ब्राडफुट साहब ऐजेंट नियुक्त हुए। सिक्ख लोग ब्राडफुट साहब से प्रसन्न नहीं थे। ब्राडफुट साहब को सिक्खों से स्वभावतः ही विद्वेष था। उन्होंने कटकपुरा में कुछ सिक्ख घुड़सवारों पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी ; तिस पर भी सिक्ख शांत रहे। इस बीच में सतलज नदी पर अंग्रेजों का नावों का पुल बनाने का प्रयत्न करना और बंबई से पुल की नावें आना आदि भी सिक्खों को खटका। और भी कई ऐसी घटनाएँ हुईं ; परन्तु उनमें से सिक्ख दरबार के अधीन, मुलतान के दीवान मूलराज का अंग्रेजों से सिक्ख दरबार के विरुद्ध सहायता पाने के लिये पत्र भेजना मुख्य था। दीवान मूलराज ने लाहौर दरबार की आज्ञा उल्लघन की थी, इस पर लाहौर दरबार ने मूलराज की बुद्धि ठिकाने पर लाने के लिये उस पर आक्रमण करने को सेना भेजना उचित समझा था। दीवान मूलराज ने इस आक्रमण के मुकाबिले के लिये अंग्रेजों से सहायता माँगी, और अदूरदर्शी ब्राडफुट ने सहायता देना स्वीकार किया जिससे सिक्ख और भी चिढ़ गए।

इस समय सिक्खों में कुछ लोग अंग्रेजी पढ़ चुके थे। उनमें से कुछ लोग अंग्रेजी समाचार-पत्र भी पढ़ा करते थे। उस

समय के अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने भी भावी सिक्ख युद्धाग्नि में घृत डालने का काम किया ; क्योंकि प्रायः अंग्रेजी के अनेक अखबारों के प्रति अंक मे रंगीन इबारतों में प्रकट किया जाता था कि सिक्ख युद्ध अवश्यम्भावी है, जिससे साधारण सिक्खों तक में उत्तेजना फैलने लगी थी ।

ये सब छोटी मोटी घटनाएँ तो हो ही रही थीं, पर पाठक पूर्व परिच्छेदों में पढ़ चुके हैं कि सिक्ख साम्राज्य की भीतरी दशा भी अच्छी नहीं थी। उस समय पंजाब में लंका के विभीषण, कन्नौज के जयचंद और मुर्शिदाबाद के नाशकारी सेठ अमीचंद की कमी नहीं थी। सिक्ख सरदारों ने गुरु गोविंदसिंह के मंत्र से दीक्षित और पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की रणपारदर्शी नीति से परिचालित सिक्ख सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने में कसर नहीं की। वीरवाहिनी सिक्ख सेना अपने देशद्रोही, सरदारों के कथन को प्रथम टालती रही। वह पहले अपने उन सरदारों की बातों में नहीं आई ; परंतु अंत में मातृभूमि का शुद्ध निर्म्मल प्रेम, स्वर्ग से बढ़ कर भी जन्मभूमि का अतुलनीय गौरव, सब से बढ़ कर स्वाधीनता ने सिक्ख सेना का खून उबाल ही तो दिया। उन सरदारों के माया जाल में सिक्ख सेना फँस गई। उनके मंत्र से सिक्ख सेना मुग्ध हो गई। उनके बार बार "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" कथन ने सिक्ख वीरों के हृदय पर अमोघ बाणों का काम किया। वीरवाहिनी सिक्ख सेना, कुछ आगा पीछा न सोच कर देश प्रेम में मत्त होकर ब्रिटिश सेना से भिड़ने को तैय्यार हो गई। देशमंगल की कामना ने सिक्ख सेना को भविष्य के भले बुरे विचार से ज्ञानशून्य कर दिया। समरक्षेत्र में मृत्यु को प्राणप्यारी पत्नी के समान आलिंगन करनेवाले-

सिक्ख वीरों ने मातृभूमि की रक्षा के लिये अपने हृदय का रक्त बहाने की भीष्म प्रतिज्ञा की। हाय ! वे यह नहीं समझ सके कि जिस तरह से बहेलिए के संगीत की मधुर ध्वनि बेचारे निर्बोध हिरन की प्राणलेवा होती है, वैसे ही सिक्ख सरदारों का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह अमोघ बाण सिक्ख साम्राज्य के लिये काल उपस्थित कर देगा। उन्हें क्या मालूम था कि जिस अनंत बुद्धिबल और अपूर्व भुजबल से नरकेसरी रणजीतसिंह ने जो विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित किया है, उसको मटियामेट करने के लिये कवि के इस कथनानुसार—

"जस कुल तजि अपमान सहि, धन हित बरबस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै सकत करि सोय॥"

ऐसे सिक्ख सरदार उत्पन्न हो गए हैं, जो सिक्खों की प्यारी स्वाधीनता को चाँदी के लोभ से बेच रहे हैं।

समय के अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने भी भावी सिक्ख युद्धाग्नि में घृत डालने का काम किया; क्योंकि प्रायः अंग्रेजी के अनेक अखबारों के प्रति अंक मे रंगीन इबारतों में प्रकट किया जाता था कि सिक्ख युद्ध अवश्यम्भावी है, जिससे साधारण सिक्खों तक में उत्तेजना फैलने लगी थी।

ये सब छोटी मोटी घटनाएँ तो हो ही रही थीं, पर पाठक पूर्व परिच्छेदों में पढ़ चुके हैं कि सिक्ख साम्राज्य की भीतरी दशा भी अच्छी नहीं थी। उस समय पंजाब में लंका के विभीषण, कन्नौज के जयचंद और मुर्शिदाबाद के नाशकारी सेठ अमीचंद की कमी नहीं थी। सिक्ख सरदारों ने गुरु गोविंदसिंह के मंत्र से दीक्षित और पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की रणपारदर्शी नीति से परिचालित सिक्ख सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने में कसर नहीं की। वीरवाहिनी सिक्ख सेना अपने देशद्रोही, सरदारों के कथन को प्रथम टालती रही। वह पहले अपने उन सरदारों की बातों में नहीं आई; परंतु अंत में मातृभूमि का शुद्ध निर्म्मल प्रेम, स्वर्ग से बढ़ कर भी जन्मभूमि का अतुलनीय गौरव, सब से बढ़ कर स्वाधीनता ने सिक्ख सेना का खून उबाल ही तो दिया। उन सरदारों के माया जाल में सिक्ख सेना फँस गई। उनके मंत्र से सिक्ख सेना मुग्ध हो गई। उनके बार बार "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" कथन ने सिक्ख वीरों के हृदय पर अमोघ बाणों का काम किया। वीरवाहिनी सिक्ख सेना, कुछ आगा पीछा न सोच कर देश प्रेम मे मत्त होकर ब्रिटिश सेना से भिड़ने को तैय्यार हो गई। देशमंगल की कामना ने सिक्ख सेना को भविष्य के भले बुरे विचार से ज्ञानशून्य कर दिया। समरक्षेत्र में मृत्यु को प्राणप्यारी पत्नी के समान आलिंगन करनेवाले-

सिक्ख वीरों ने मातृभूमि की रक्षा के लिये अपने हृदय का रक्त बहाने की भीष्म प्रतिज्ञा की। हाय ! वे यह नहीं समझ सके कि जिस तरह से बहेलिए के संगीत की मधुर ध्वनि बेचारे निर्बोध हिरन की प्राणलेवा होती है, वैसे ही सिक्ख सरदारों का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह अमोघ बाण सिक्ख साम्राज्य के लिये काल उपस्थित कर देगा। उन्हें क्या मालूम था कि जिस अनंत बुद्धिबल और अपूर्व भुजबल से नरकेसरी रणजीतसिंह ने जो विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित किया है, उसको मटियामेट करने के लिये कवि के इस कथनानुसार—

"जस कुल तजि अपमान सहि, धन हित बरबस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै सफल करि सोय॥"

ऐसे सिक्ख सरदार उत्पन्न हो गए हैं, जो सिक्खों की प्यारी स्वाधीनता को चाँदी के लोभ से बेच रहे हैं।

समय के अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने भी भावी सिक्ख युद्धाग्नि में घृत डालने का काम किया ; क्योंकि प्रायः अंग्रेजी के अनेक अखबारों के प्रति अंक मे रगीन इबारतों में प्रकट किया जाता था कि सिक्ख युद्ध अवश्यम्भावी है, जिससे साधारण सिक्खों तक में उत्तेजना फैलने लगी थी।

ये सब छोटी मोटी घटनाएँ तो हो ही रही थीं, पर पाठक पूर्व परिच्छेदों में पढ़ चुके हैं कि सिक्ख साम्राज्य की भीतरी दशा भी अच्छी नहो थी। उस समय पंजाब में लंका के विभीषण, कन्नौज के जयचद और मुर्शिदाबाद के नाशकारी सेठ अमीचद की कमी नहीं थी। सिक्ख सरदारों ने गुरु गोविंदसिंह के मंत्र से दीक्षित और पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की रणपारदर्शी नीति से परिचालित सिक्ख सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने में कसर नहीं की। वीरवाहिनी सिक्ख सेना अपने देशद्रोही, सरदारों के कथन को प्रथम टालती रही। वह पहले अपने उन सरदारों की बातों में नहीं आई ; परंतु अत में मातृभूमि का शुद्ध निर्म्मल प्रेम, स्वर्ग से बढ़ कर भी जन्मभूमि का अतुलनीय गौरव, सब से बढ़ कर स्वाधीनता ने सिक्ख सेना का खून उबाल ही तो दिया। उन सरदारों के माया जाल में सिक्ख सेना फँस गई। उनके मन्त्र से सिक्ख सेना मुग्ध हो गई। उनके बार बार "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" कथन ने सिक्ख वीरों के हृदय पर अमोघ बाणों का काम किया। वीरवाहिनी सिक्ख सेना, कुछ आगा पोछा न सोच कर देश प्रेम में मत्त होकर ब्रिटिश सेना से भिड़ने को तैय्यार हो गई। देशमगल की कामना ने सिक्ख सेना को भविष्य के भले बुरे विचार से ज्ञानशून्य कर दिया। समरक्षेत्र में मृत्यु को प्राणप्यारी पत्नी के समान आलिंगन करनेवाले-

सिक्ख वीरों ने मातृभूमि की रक्षा के लिये अपने हृदय का रक्त बहाने की भीष्म प्रतिज्ञा की। हाय ! वे यह नहीं समझ सके कि जिस तरह से बहेलिए के संगीत की मधुर ध्वनि बेचारे निर्बोध हिरन की प्राणलेवा होती है, वैसे ही सिक्ख सरदारों का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह अमोघ बाण सिक्ख साम्राज्य के लिये काल उपस्थित कर देगा। उन्हें क्या मालूम था कि जिस अनंत बुद्धिबल और अपूर्व भुजबल से नरकेसरी रणजीतसिंह ने जो विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित किया है, उसको मटियामेट करने के लिये कवि के इस कथनानुसार—

"जस कुल तजि अपमान सहि, धन हित बरबस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै सकत करि सोय॥"

ऐसे सिक्ख सरदार उत्पन्न हो गए हैं, जो सिक्खों की प्यारी स्वाधीनता को चाँदी के लोभ से बेच रहे हैं।

समय के अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने भी भावी सिक्ख युद्धाग्नि में घृत डालने का काम किया, क्योंकि प्रायः अंग्रेजी के अनेक अखबारों के प्रति अंक में रंगीन इबारतों में प्रकट किया जाता था कि सिक्ख युद्ध अवश्यम्भावी है, जिससे साधारण सिक्खों तक मे उत्तेजना फैलने लगी थी।

ये सब छोटी मोटी घटनाएँ तो हो ही रही थीं, पर पाठक पूर्व परिच्छेदों में पढ़ चुके हैं कि सिक्ख साम्राज्य की भीतरी दशा भी अच्छी नहीं थी। उस समय पंजाब में लंका के विभीषण, कन्नौज के जयचंद और मुर्शिदाबाद के नाशकारी सेठ अमीचंद की कमी नहीं थी। सिक्ख सरदारों ने गुरु गोविंदसिंह के मंत्र से दीक्षित और पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की रणपारदर्शी नीति से परिचालित सिक्ख सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने में कसर नहीं की। वीरवाहिनी सिक्ख सेना अपने देशद्रोही, सरदारों के कथन को प्रथम टालती रही। वह पहले अपने उन सरदारों की बातों में नहीं आई; परंतु अंत में मातृभूमि का शुद्ध निर्म्मल प्रेम, स्वर्ग से बढ़ कर भी जन्मभूमि का अतुलनीय गौरव, सब से बढ़ कर स्वाधीनता ने सिक्ख सेना का खून उबाल ही तो दिया। उन सरदारों के माया जाल में सिक्ख सेना फँस गई। उनके मंत्र से सिक्ख सेना मुग्ध हो गई। उनके बार बार "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" कथन ने सिक्ख वीरों के हृदय पर अमोघ बाणों का काम किया। वीरवाहिनी सिक्ख सेना, कुछ आगा पीछा न सोच कर देश प्रेम में मत्त होकर ब्रिटिश सेना से भिड़ने को तैय्यार हो गई। देशमंगल की कामना ने सिक्ख सेना को भविष्य के भले बुरे विचार से ज्ञानशून्य कर दिया। समरक्षेत्र में मृत्यु को प्राणप्यारी पत्नी के समान आलिंगन करनेवाले

सिक्ख वीरों ने मातृभूमि की रक्षा के लिये अपने हृदय का रक्त बहाने की भीष्म प्रतिज्ञा की। हाय ! वे यह नहीं समझ सके कि जिस तरह से बहेलिए के संगीत की मधुर ध्वनि बेचारे निर्बोध हिरन की प्राणलेवा होती है, वैसे ही सिक्ख सरदारों का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह अमोघ बाण सिक्ख साम्राज्य के लिये काल उपस्थित कर देगा। उन्हें क्या मालूम था कि जिस अनंत बुद्धिबल और अपूर्व भुजबल से नरकेसरी रणजीतसिंह ने जो विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित किया है, उसको मटियामेट करने के लिये कवि के इस कथनानुसार—

"जस कुल तजि अपमान सहि, धन हित बरबस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै सकत करि सोय॥"

ऐसे सिक्ख सरदार उत्पन्न हो गए हैं, जो सिक्खों की प्यारी स्वाधीनता को चाँदी के लोभ से बेच रहे हैं।

---

(७) रणचंडी का नृत्य

"गरजि गरजि गंभीर रव, बरसि बरसि मधुधार।
शत्रु नगर गज घेरिहैं घन जिमि विविध पहार॥
जिन तो पै विश्वम करि सौंप्यौं सब धन धाम।
ताहि मारि दुख दे सवन साँचो किय निज नाम"॥

—भारतेंदु हरिश्चंद्र।

सन् १८४५ के १८ वीं दिसंबर का दिन इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। उस दिन गुरु गोविंदसिंह के मंत्र से दीक्षित और पंजाबकेसरी रणजीतसिंह की रणनीति से परिचालित सिक्ख सेना "सत्य श्री अकाल" "वाह गुरुजी का खालसा" और "वाह श्री गुरुजी की फतह" का सिंहनाद करती हुई मुदकी के मैदान में अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये एकत्र हुई! उस दिन मुदकी के मैदान में जो दृश्य देखा गया था, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। वीरवाहिनी बृटिश सेना के मुकाबिले में खालसा सेना अपने गंभीर गर्जन से चारों दिशाओं को कंपायमान कर रही थी।

प्रायः सभी इतिहासलेखकों ने अंग्रेजों से युद्ध करने तथा संधि भंग का कलंक सिक्खों के मत्थे मढ़ा है। हम सिक्खों के हृदय में कुछ संदेहजनक भावों के उत्पन्न होने का कारण इससे पहले परिच्छेद में लिख चुके हैं। जो कुछ हो हम भी अनेक इतिहास लेखकों के इस कथन से सहमत होते हुए यह कहे बिना नहीं रह सकते हैं कि चाहे सिक्ख इस युद्ध में दोषी हों अथवा निर्दोषी, परंतु इस युद्ध के समय उनके हृदय में एक अपूर्व उत्साह था। प्रत्येक सिक्ख अपनी मातृभूमि की

रक्षा के निमित्त, अपने मान अपमान की परवाह न करता हुआ युद्ध के छोटे से छोटे कामों से लेकर बड़े बड़े काम स्वयं अपने हाथों से करता था। उस समय युद्ध के निमित्त सिक्ख लोग अनेक कठोर कष्टों को फूलों की माला के समान धारण किए हुए थे। घोड़ों के बदले स्वयं ही तोपें खींचते थे। कुलियों के बदले गाड़ियों पर स्वयं ही रसद लादते थे, नावों पर से स्वयं रसद आदि उतरवाते और लदवाते थे। इस युद्ध के समय प्रत्येक सिक्ख संतान भगवान् श्रीकृष्णचद्र के इस वाक्य को 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' अपने हृदय मे धारण किए हुए थी; पर हाय! उस समय सिक्ख इस बात से अनभिज्ञ थे कि उन्हीं के विश्वासघात सरदार लालसिंह और तेजसिंह उनकी स्वर्ग समान स्वाधीनता को मटियामेट करने के लिए उतारू हो रहे हैं। १७ वीं नवंबर सन् १८४५ को युद्ध की घोषणा प्रचारित हुई थी। ११ वीं दिसंबर को सिक्ख सेना सतलज के इस पार उतर आई और उसने अंग्रेजों को अपने आगमन की सूचना १६ वीं दिसंबर को दी। अंग्रेज भी इस युद्ध की ओर से गाफिल न थे, उन्होंने पहले से ही विपुल आयोजन और सैन्यसंग्रह कर रखा था, और अंग्रेजों के महारथी ड्यूक आफ वेलिंगटन भी इस युद्ध में योग देने के लिये पधारे थे। ड्यूक आफ वेलिंगटन के ग्रह अच्छे थे। भाग्यदेवता उनसे वाटरलू के युद्ध मे महाबली नेपोलियन बोनापार्ट के मुकाबले में प्रसन्न हो चुका था। इसी से चारों ओर उनकी ख्याति हो रही थी। भारतीय सेना के प्रधान सेनापति गफ साहब ने इस युद्ध का भार ड्यूक आफ वेलिंगटन पर सौंपा।

१८ वीं दिसंबर सन् १८४५ उपस्थित हो गई! रणचंडी का

नृत्य आरंभ हुआ। दोनों ओर से तोपों की भीम-गर्जनाएँ होने लगीं। नहीं जानते कि इस युद्ध से पहले सन् १८०३ में भरतपुर दुर्ग को घेरने के अतिरिक्त और भी किसी युद्ध में अंग्रेजों को ऐसे विकट संकट का सामना करना पड़ा या नहीं जैसा इस युद्ध मे करना पड़ा था। परंतु भगवान् को अंग्रेजों की प्रतिष्ठा रखनी मंजूर थी, नहीं तो क्यों, जातिविद्वेषी विश्वासघाती लालसिंह ने अंग्रेज एजेंट निकोलसन को लिख भेजता—"आप को मालूम हो कि मैं अंग्रेजों का मित्र हूँ, अब मुझे क्या करना चाहिए"। निकोलसन साहब ने लिख भेजा कि—"जब तक आप अंग्रेजों के मित्र बने हैं, तब तक फिरोजपुर पर हमला न कीजिए, और जैसे बने, अपनी सेना को गवर्नर-जनरल के सामने ले जाइए।" देशद्रोही लालसिंह ने अंग्रेज ऐजेंट निकोलसन की आज्ञा को क्रीतदास के समान स्वीकार किया; नहीं तो मुद्की के मैदान मे सिक्खों का भाग्य पलटा क्यों खाता?

सिक्ख सेना फिरोजपुर पर आक्रमण करना चाहती थी, जहाँ केवल आठ हजार अंग्रेजी सेना थी। लालसिंह ने केवल सामयिक शब्दों में सिक्खों के इस अनुरोध को टाल दिया। उसने बड़े उत्तेजक शब्दों में सिक्ख सेना को संबोधन किया कि "मैं अंग्रेजों के प्रधान सेनापति के सिवाय और किसी से लड़ना अपनी बेइज्जती समझता हूँ"। सरल हृदय सिक्ख सेना अपने सेनापति के इस कपट को समझ न सकी। वह उसके मन्त्र के वशीभूत हो कर, जिधर उसने खदेड़ा उधर ही जाने लगी। इसके आगे इस युद्ध में जो कुछ हुआ वह पाठकों को थोड़े ही शब्दों में सुनाना है। अंग्रेज लोग अफगान युद्ध में सिक्खों की वीरता का परिचय पा जाने पर भी अपने पराक्रम के कारण फूले अंग नहीं समाते थे, और वे समझते थे कि

यों ही सिक्खों को मार भगावेंगे, पर सिक्खों की वीरता देख कर उनकी शूरवीरता का नशा उतर गया। अनेक अंग्रेज योद्धा गाजर मूली की भाँति कटने लगे। सेनापति लालसिंह अपनी नीच वृत्ति का ऐसे समय में भी परिचय दिए बिना न रहा। ऐसे समय में भी उसने सेनापति का कर्त्तव्य कर्म परित्याग कर दिया; परंतु तब भी विश्वासघाती सेनापति के अधीन सिक्ख सेना ने ऐसी वीरता प्रकट की कि अंग्रेजी सेना घबराहट के कारण आपस में अपनी सेना के लोगों पर गोली चलाने लगी। सेनापति न होने पर सिक्ख सेना कब तक ठहरती ? अंत में सिक्ख सेना पीछे मुड़ने लगी। पीछे मुड़ती हुई सिक्ख सेना ढाई कोस तक अपनी प्रचंड वीरता का परिचय देती रही।

इस युद्ध मे अंग्रेजों की ओर के ८७२ मनुष्य मारे गए, परंतु इतने आदमियों की बलि चढ़ा कर सिक्खों की १७ तोपें अंग्रेजों के हाथ लगीं। प्रसिद्ध अंग्रेज वीर सर राबर्ट सेल और सेनाध्यक्ष केसकिल इस युद्ध में भूतलशायी हुए।

इसके बाद फिर युद्ध ठना। २१ वीं दिसंबर को मुदकी से चल कर प्रधान सेनापति गफ़ साहब ने अपनी सेना भी उस सेना में मिलाई। यह संपूर्ण अंग्रेजी सेना १८ हजार हो गई। ६५ तोपों सहित यह सेना फिरो शहर पर आक्रमण करने चली। उस समय भारतवर्ष के गवनर जनरल, हमारे भूतपूर्व बड़े लाट लार्ड हार्डिंज के पूर्वज सर हेनरी हार्डिंज साहब थे। उन्होंने अंग्रेजी सेना को उत्साहित करने के लिये, प्रधान सेनापति गफ़ के अधीन सेना के एक दल का सेनाध्यक्ष होना स्वीकार किया।

फिरो शहर मुदकी और फीरोजपुर से पाँच कोस की दूरी पर है। मुदकी युद्ध के बाद फिरो शहर में भीषण संग्राम

हुआ। सिक्खों ने बड़ी कठिन व्यूह रचना की। उस व्यूह को भेदना अंग्रेजी सेना को कठिन हो गया। फिरो शहर में रात्रि को भी युद्ध होता रहा। अंग्रेजी सेना को शत्रुओं के आक्रमण रोकने में बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। अँग्रेजी सेना के व्यूह का एक भाग टूट गया। लाड हार्डिंज को अँग्रेजी सेना की ऐसी दुर्दशा सहन नहीं हुई। वे भूख प्यास की कुछ भी परवाह न करते हुए, सामान्य सैनिक की भाँति सेना के प्रत्येक भाग में भ्रमण करके, अंग्रेजी सेना को उत्साहित करने लगे। पर हाय! इस युद्ध में भी चाँदी, सोने की जगमगाहट में अपनी स्वाधीनता खोनेवाले विश्वासघातक और देशद्रोही सिक्ख सेनापतियों ने अपनी नीचता का परिचय देने में कुछ कसर नहीं रखी, जिससे सिक्ख सेना का भाग्य पलट गया। विजयलक्ष्मी ने अँग्रेजी सेना को वरमाल पहनाई। अंग्रेजों की संपूर्ण सेना का सातवाँ भाग इस युद्ध में कट गया, जिससे अंग्रेजों को यह विजय बड़ी महँगी पड़ी। जो हो इस युद्ध से सिक्खों की ७० तोपें और कुछ प्रदेश अंग्रेजों के हाथ लगे। इस सिक्ख युद्ध का इतिहासों में जो वर्णन मिलता है, उसको पढ़ कर बिना किसी संकोच के कहना पड़ता है कि उस समय सिक्खों का भाग्य-विधाता ही सिक्खों से रूठ गया था और नहीं तो सिक्खों ने इस युद्ध में अपूर्व वीरता, अदम्य उत्साह, अटल धैर्य्य और अलौकिक साहस का परिचय दिया था। यदि सिक्खों का भाग्य-विधाता, सिक्खों से न रूठा होता तो क्यों सबके सब सिक्ख सेनापति विश्वासघात के दास बनते। पाठक यह न समझें कि केवल लालसिंह और तेजसिंह दो ही सेनापति देशद्रोही और विश्वासघाती थे; नहीं रणजोरसिंह, जम्मू के राजा गुलाबसिंह आदि सभी सेनापतियों ने लालसिंह

और तेजसिंह के पदचिह्नों का अनुसरण किया था, जिसके कारण पंजाब का भाग्य पलट गया।

इस युद्ध के बाद सिक्खों ने अलीवाल के रणक्षेत्र में अपने भाग्य की परीक्षा की, परंतु इस युद्ध में भी अपार वीरता प्रकट करने पर भी सिक्खों की अपरिमित हानि हुई। तिस पर भी सिक्ख हताश नहीं हुए। पंजाब की स्वाधीनता अक्षुण्ण रखने का विचार सिक्खों के हृदय से मिटा नहीं। थोड़े ही दिन पीछे फिर इतिहास-प्रसिद्ध सोबरॉंव का युद्ध हुआ। पर सिक्खों को क्या खबर थी कि वे अपने शत्रुओं से न लड़ कर अपने भाग्य से लड़ रहे हैं। बेचारे सीधे सादे सिक्ख योद्धाओं को क्या खबर थी कि इस युद्ध में भी उनका भाग्य विश्वासघात के कठोर जाल मे फँस चुका है। दैव ही उनके प्रतिकूल है। उनके रक्षक ही उनके भक्षक बने हुए हैं। युद्ध के जिस परिणाम के लिये पहले से दाँव पेंच लगाए गए थे, वे पूरे हुए। विश्वासघाती सेनापतियों के कारण, सोबराँव युद्ध के कारण पहले से ही जिस भयंकर परिणाम की आशंका थी, वही भयंकर परिणाम हुआ। इस युद्ध में सिक्खों के भाग्य देवता यहाँ तक रूठे हुए थे कि जब सिक्ख सेना रण-क्षेत्र से हटने लगी, तब सतलज नदी का पुल टूट गया। उस समय सतलज लबालब भरी हुई थी। शत्रुओं की गोलियों के सामने सतलज को पार करना कठिन था। सिक्खों ने सत-लज को तैर कर पार करने की अपेक्षा रणक्षेत्र में प्राण विसर्जन करना अच्छा समझा। शत्रुओं की अग्निवर्षा की कुछ भी परवाह न करके वे अटल पर्वत के समान रणक्षेत्र में डट गए। अंग्रेजी सेना भी अपार अग्निवर्षा करने लगी। वीर अंग्रेज सिक्खों की इस अटल प्रतिज्ञा को देख कर कि रणक्षेत्र में शत्रु

से दया भिक्षा की प्रार्थना करने से मर जाना लाख दरजे अच्छा है, चकित स्तंभित हो गए। जिस तरह से महावीर फ्रेंच सम्राट् नेपोलियन बोनापार्ट के सेनापति ने रूसी सेना के घिराव में आ कर कहा कि फ्रेंच सेनापति हथियार रख कर, शत्रु के हाथ में आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा मरना जानता है, वैसे ही सिक्ख वीरों ने सतलज के पुल टूटने पर अपने प्राणों की रक्षा के लिये प्रार्थना न करके, रणक्षेत्र में महानिद्रा की गोद में सदैव के लिये विश्राम करना उचित समझा।

अनेक इतिहास-लेखक सतलज के पुल टूटने का कलंक भी देशद्रोही सेनापतियों के मत्थे मढ़े बिना नहीं रहे हैं।

इस युद्ध में एक बार नहीं अनेक बार सिक्खों ने अपनी स्वाभाविक वीरता का परिचय दिया था। सच्चा वीर वही है जिसकी वीरता पर उसके अतुलनीय साहस की शत्रु भी मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हों। सिक्खों के विपक्षी अंग्रेज इतिहासकारों ने भी सोबरांव के युद्ध में सिक्खों की वीरता की, उनके अदमनीय पराक्रम की सहस्र मुख से प्रशंसा की है। इस युद्ध में भी सिक्खों ने अंग्रेजों को अनेक बार पीछे खदेड़ दिया था। वीरवाहिनी बृटिश सेना को कई बार विकट संकट का सामना करना पड़ा था, पर इतने पर भी सिक्खों की वीरता कुछ काम न आई। सिक्खों का भाग्य-विधाता सिक्खों से रूठा हुआ था। सिक्ख सेनापतिगण ज्ञानशून्य हो रहे थे। देशद्रोही, जातिविद्वेष और विश्वासघात सिक्ख सेनापतियों के संग परछाँई के समान चिपटे हुए थे, तब भला विजयलक्ष्मी उनसे कैसे प्रसन्न होती? अतएव सोबराँव के युद्ध में भी विजयी वीर सिक्खों के भाग्य में पराजय शब्द ही लिखा हुआ

था। कई इतिहासलेखक लिखते हैं कि लालसिंह ने सोबराँव युद्ध में सिक्खों के पड़ाव का आदि से अंत तक का पूरा वृत्तांत अंग्रेजों को लिख भेजा था। फिर लालसिंह और तेजसिंह ही नहीं, प्रायः सभी मुखिया पंजाब की स्वाधीनता के मिटाने की चेष्टा कर रहे थे। तब भला विजयलक्ष्मी सिक्खों से कैसे प्रसन्न होती। विधि का विधान जाना नहीं जाता है। परमात्मा को यह मंजूर नहीं था कि सिक्ख लोग अभी और कुछ दिन तक स्वाधीनता का उपभोग करें। सिक्खों में अनंत भुजबल होने पर भी सोबराँव के युद्ध में स्वाधीनता देवी उनसे प्रसन्न नहीं हुई। महाराज रणजीतसिंह के साथ ही साथ पंजाब की स्वतंत्रता देवी विदा हो चली थी। सोबराँव के युद्ध में उसने सिक्खों के साम्राज्य के नाश होने की पूरी चेतावनी दे दी। उस चेतावनी के कारण ही अद्भुत शक्तिशाली सिक्ख अशक्त हो गए। सोबराँव के युद्ध के शोचनीय परिणाम को देख कर, भाग्य के भरोसे न रहनेवाले वीर सिक्खगण सोचने लगे कि मनुष्य से परे एक और भी शक्ति है, उसी शक्ति ने हमारी शक्ति हरण कर ली है।

---

(८) स्वाधीनता हरण और शोचनीय परिणाम

"A thousand years scarce serve to form a state,
An hour may lay it in the dust"

—Byron.

विश्वसघातके ! तेरे लिए इस संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। तू असभव को भी संभव कर देती है। तेरी माया जानी नहीं जाती। विभीषण बन के तैने सुवर्णपुरी लंका का विनाश किया। जयचंद बन कर तूने स्वर्गतुल्य भारतमाता के पैरों में पराधीनता की बेड़ी डलवायी। मुरा बन के तूने महाबली नेपोलियन बोनापार्ट को सेंट हेलना पहुँचाया। एक पापी शिष्य के रूप मे तूने प्रभु ईसामसीह को फाँसी दिलवाई। एक पापी सेवक के रूप में तूने गुरु गोविंदसिंह के पुत्रों को उनके शत्रुओं के हाथ सौंपा। एक पापी मित्र के रूप में तूने स्काटलैंड के महाबली विलियम वालेस को उसके शत्रु के हाथ मे पकड़वाया, तेजसिंह, गुलाबसिंह, लालसिंह आदि सेनापतियों और मुखियों के रूप में तैने सिक्खों की वीरता पर कलक लगवाया, पजाब की स्वाधीनता हरण कराई। इसलिये कहते हैं कि तेरी माया जानी नहीं जाती।

सोबराँव युद्ध मे सिक्खों के आठ हजार वीर अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये अनंत कीर्त्ति छोड़ कर भूतलशायी हुए। अंग्रेजी सेना के दो हजार चार सौ तिरासी सैनिक मृत्यु के ग्रास हुए। विजय प्राप्त हो जाने पर अंग्रेज लोग निश्चित नहीं हुए। एक दिन आराम कर लेने के बाद वे आगे बढ़े। तीन दिन में लार्ड हार्डिंज सेना समेत पहुँचे। वहाँ सन १८४६ की २० वीं फरवरी के दिन अंग्रेजों ने इस आशय का एक घोषणा-

पत्र प्रकाशित किया कि "अंग्रेजों का विचार पंजाब राज्य को अपने राज्य में मिलाने का नहीं है; पर केवल संधि बिगाड़ने की सजा देने के लिये पंजाब अंग्रेजों के हाथ में रहेगा। भविष्य में शांति प्रचार करने तथा युद्ध का खर्च वसूल करने के लिये सिक्ख साम्राज्य के कई प्रदेश अंग्रेजी शासन के अधीन रहेंगे। यद्यपि लाहौर दरबार को संधिभंग करने की पूरी सजा मिलनी चाहिए तो भी लाट साहब दरबार और सरदारों को राज्य सुधारने का अवसर देते हैं। दरबार और सरदारों की सहायता से अंग्रेजों के परम मित्र महाराज रणजीतसिंह के पुत्र की अधीनता में निर्दोष सिक्ख राज्य के स्थापित करने की ही उनकी प्रबल लालसा है"।

यह विज्ञापन क्या था? पंजाब निवासियों पर बिजली पड़ी। पहले उन्हें मालूम नहीं था कि अंग्रेज सिर्फ सोबराँव के युद्ध में ही विजय प्राप्त करके ही पंजाब में घुस आवेंगे। अब उनकी आँखें खुलीं। जिन कुलकलंकों ने युद्ध में घोर विश्वासघात का परिचय दिया था, जिनके विश्वासघात से सिक्खों का भाग्य विपरीत हुआ था, इस विज्ञापन को देख कर वे भी हाथ मल मल कर पछताने लगे। अब उनको अपनी भूल ज्ञात हुई। वे लोग यह उद्योग करने लगे कि किसी तरह से अँग्रेज लोग राजधानी लाहौर न पहुँचें तो अच्छा हो। जम्मू-नरेश राजा गुलाबसिंह ने इस विषय मे प्रबल प्रयत्न किया। अपना प्रयत्न सफल होता न देख कर राजा गुलाबसिंह बालक महाराज दलीपसिंह को लाट साहब के डेरे मे ले गए। इस पर भी अंग्रेज लोग अपने निश्चय से नहीं टले। सुनते हैं, इसपर राजा गुलाबसिंह ने क्रोधित हो कर कहा था—"यदि मैं युद्ध चलने देता तो लड़ाई का परिणाम ही और होता,

(८) स्वाधीनता हरण और शोचनीय परिणाम

"A thousand years scarce serve to form a state,
An hour may lay it in the dust"

—Byron.

विश्वसघातके ! तेरे लिए इस संसार में कुछ भी असभव नहीं है। तू असभव को भी संभव कर देती है। तेरी माया जानी नहीं जाती। विभीषण बन के तैने सुवर्णपुरी लंका का विनाश किया। जयचंद बन कर तूने स्वर्गतुल्य भारतमाता के पैरों में पराधीनता की बेड़ी डलवायी। मुरा बन के तूने महाबली नेपोलियन बोनापार्ट को सेंट हेलना पहुँचाया। एक पापी शिष्य के रूप मे तूने प्रभु ईसामसीह को फाँसी दिलवाई। एक पापी सेवक के रूप में तूने गुरु गोविदसिंह के पुत्रों को उनके शत्रुओं के हाथ सौंपा। एक पापी मित्र के रूप मे तूने स्काटलैंड के महावली विलियम वालेस को उसके शत्रु के हाथ में पकड़वाया, तेजसिंह, गुलावसिंह, लालसिंह आदि सेनापतियों और मुखियों के रूप में तैने सिक्खों की वीरता पर कलंक लगवाया, पजाव की स्वाधीनता हरण कराई। इसलिये कहते हैं कि तेरी माया जानी नहीं जाती।

सोबराँव युद्ध में सिक्खों के आठ हजार वीर अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये अनंत कीर्त्ति छोड़ कर भूतलशायी हुए। अंग्रेजी सेना के दो हजार चार सौ तिरासी सैनिक मृत्यु के ग्रास हुए। विजय प्राप्त हो जाने पर अंग्रेज लोग निश्चित नहीं हुए। एक दिन आराम कर लेने के बाद वे आगे वढ़े। तीन दिन में लार्ड हार्डिंज सेना समेत पहुँचे। वहाँ सन १८४६ की २० वीं फरवरी के दिन अंग्रेजों ने इस आशय का एक घोषणा-

बीस हजार पैदल और १२ हजार सवार सेना रखने के अतिरिक्त और कुछ शक्ति नहीं रही। बाकी सेना को * उसका शेष वेतन दे कर अलग किया गया। लाहौर दरबार की बाकी तोपें भी अँग्रेजों के हाथ लगीं। सिक्खों को सतलज के दक्षिण ओर के समस्त प्रदेश अँग्रेजों को अर्पण करने पड़े। युद्ध खर्च के लिये डेढ़ करोड़ रुपया देने में असमर्थ होने के कारण, एक करोड़ के बदले काश्मीर और हजारा समेत व्यास और सिंध नद के बीच के समस्त प्रदेश को अँग्रेजों को देना पड़ा। बाकी पचास लाख रुपया थोड़े दिनों में देने का वचन दिया गया। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अँग्रेज सरकार वर्त्तमान वर्ष के अंत तक लाहौर में अँग्रेजी सेना रखेगी। बस इस प्रकार विशाल सिक्ख साम्राज्य बलहीन हो गया। वही हमारा परिचित लालसिंह नवीन सिक्ख साम्राज्य का मंत्री हुआ। गुलाबसिंह काश्मीर का स्वाधीन नरेश हुआ। तेजसिंह को स्यालकोट का राजा और नवीन सिक्ख सेना का सेनापति बनाया गया। और भी जिन लोगों ने अंग्रेजों का साथ दिया था वे भी कई अच्छे पदों पर नियुक्त हुए; पर लालसिंह मन्त्री पद बहुत दिनों तक भोग नहीं सका। यद्यपि उसने अँग्रेजों को सब प्रकार से प्रसन्न करने में कसर बाकी नहीं रखी तथापि उसका सौभाग्य सितारा बहुत दिनों तक नहीं चमका। इमामुद्दीन नामक एक आदमी ने काश्मीर-नरेश गुलाबसिंह के विरुद्ध विद्रोह किया था, अँग्रेजों की सहायता से बगावत दूर हो गई;

---

* गुलाबसिंह को अंग्रेजों ने सिर्फ ७२ लाख पर रावी और सिंध के मध्यस्थित काश्मीर आदि प्रदेश बेंचकर स्वाधीन नरेश स्वीकार किया।

यदि मैं अपनी इच्छा से जाल फैला कर चूहे की तरह कैद न रहता तो अस्सी हजार सेना फिरोजपुर और दिल्ली के बीच में कुहराम मचा देती।" अब गुलाबसिंह को मालूम हुआ कि यदि युद्ध चलता तो और ही कुछ परिणाम होता। पर नहीं; इसमें उनका क्या दोष है ? सच बात तो यह है कि पंजाब की स्वाधीनता के दिन पूरे हो चुके थे।

लाट साहब ने बालक महाराज दलीपसिंह का स्वागत किया और दीवान दीनानाथ, फकीर नूरुद्दीन, गुलाबसिंह आदि सरदारों से स्पष्ट कह दिया कि हमारी इच्छा पंजाब को अँग्रेजी राज्य में मिलाने की नहीं है। हम दलीपसिंह को ही उनके पैत्रिक राज्य पर देखना चाहते हैं। पर व्यास और सतलज के समस्त भूखंड तथा डेढ़ करोड़ रुपया युद्ध व्यय का अँग्रेजों को देना होगा। पर यह संधि हम राजधानी लाहौर पहुँच कर सेना सहित उपस्थित हो कर करेंगे, अन्यथा नहीं। गुलाबसिंह तथा अन्य सरदार अपना-सा मुँह ले कर बालक दलीपसिंह के साथ लाहौर लौट गए।

अँग्रेज लोग १८४८ ई० की २० वीं फरवरी को लाहौर पहुँचे। अपने पिता पंजाब-केसरी रणजीतसिंह के राजसिंहासन पर बालक दिलीपसिंह पुनः बिठलाए गए। उदार हृदय लार्ड हार्डिंज बड़े दूरदर्शी और राजनीतिज्ञ थे; उन्होंने देखा कि अमृतसर की ओर बीस हजार सिक्ख सेना तैयार है और सोबराँव युद्ध में पराजित होने के कारण सिक्ख सेना उत्तेजित हो रही है। इसलिये उन्होंने दूरदर्शिता से काम ले कर ही पंजाब में शांति संचार की चेष्टा की।

खालसा राजधानी लाहौर में अंग्रेजों के पहुँचने पर खालसा सेना की दशा पलट गई। संधि के अनुसार लाहौर दरबार को

बीस हजार पैदल और १२ हजार सवार सेना रखने के अतिरिक्त और कुछ शक्ति नहीं रही। बाकी सेना को * उसका शेष वेतन दे कर अलग किया गया। लाहौर दरबार की बाकी तोपें भी अँग्रेजों के हाथ लगीं। सिक्खों को सतलज के दक्षिण ओर के समस्त प्रदेश अँग्रेजों को अर्पण करने पड़े। युद्ध खर्च के लिये डेढ़ करोड़ रुपया देने में असमर्थ होने के कारण, एक करोड़ के बदले काश्मीर और हजारा समेत व्यास और सिंध नद के बीच के समस्त प्रदेश को अँग्रेजों को देना पड़ा। बाकी पचास लाख रुपया थोड़े दिनों में देने का वचन दिया गया। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अँग्रेज सरकार वर्त्तमान वर्ष के अंत तक लाहौर में अँग्रेजी सेना रखेगी। बस इस प्रकार विशाल सिक्ख साम्राज्य बलहीन हो गया। वही हमारा परिचित लालसिंह नवीन सिक्ख साम्राज्य का मंत्री हुआ। गुलाबसिंह काश्मीर का स्वाधीन नरेश हुआ। तेजसिंह को स्यालकोट का राजा और नवीन सिक्ख सेना का सेनापति बनाया गया। और भी जिन लोगों ने अंग्रेजों का साथ दिया था वे भी कई अच्छे पदों पर नियुक्त हुए; पर लालसिंह मंत्री पद बहुत दिनों तक भोग नहीं सका। यद्यपि उसने अँग्रेजों को सब प्रकार से प्रसन्न करने में कसर बाकी नहीं रखी तथापि उसका सौभाग्य सितारा बहुत दिनों तक नहीं चमका। इमामुद्दीन नामक एक आदमी ने काश्मीर-नरेश गुलाबसिंह के विरुद्ध विद्रोह किया था, अँग्रेजों की सहायता से बगावत दूर हो गई;

---

* गुलाबसिंह को अंग्रेजों ने सिर्फ ७२ लाख पर रावी और सिंध के मध्यस्थित काश्मीर आदि प्रदेश बेंचकर स्वाधीन नरेश स्वीकार किया।

पर यह बगावत लालसिंह के इशारे से समझी गई। इसलिये वह दो हजार रुपए मासिक वेतन पर बनारस भेज दिया गया।

उस समय सिक्खों में स्वदेश का कुछ भाव विशेष रूप से फैला हुआ था। हजार कष्ट होने पर भी वे लालसिंह के समय में उसके स्वजातीय होने के कारण कष्टों की उपेक्षा करते थे। लालसिंह के बाद अँग्रेजों का प्रत्यक्ष रूप से शासनकार्य्य से संबंध होना, सिक्खों को बुरा लगा। इतने में सन् १८४६ की १६ वीं दिसंबर को रावी के तट पर भैरवाल स्थान में लार्ड हार्डिज ने एक नई संधि की; जिसका आशय यह था कि "लाहौर में गवर्नर-जनरल अपना एक प्रतिनिधि रेजीडेंट रखेंगे, जिन्हें राज्य के कार्य्य में पूरा अधिकार होगा। कई सिक्ख सरदारों की एक सभा उन्हें राज्य कार्य्य में सहायता करती रहेगी। राज्य की रक्षा तथा शांति के लिये यदि कभी लाहौर राज्य के किसी दुर्ग मे अँग्रेजी सेना रखने की जरूरत होगी, तो लाट साहब विना रोक टोक उसे रख सकेंगे। महाराज दलीपसिंह की माता तथा उनकी सखी सहेलियों के लालन पालन के लिये सालाना डेढ़ लाख रुपया दिया जायगा। सन् १८५४ ई० की ४ थी दिसंबर को महाराज की अवस्था १६ वर्ष की हो जाने पर यह संधि नहीं रहेगी। पर इससे पहले भी दरबार तथा अँग्रेजी सरकार को संधिभंग करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो बड़े लाट बहादुर वह भी कर सकेंगे"। इस संधि के अनुसार सर हेनरी लारेंस साहब रेजीडेंट नियुक्त हुए। लारेंस साहब बहुत उदारहृदय तथा दूरदर्शी थे। यद्यपि वह पंजाब जो दस वर्ष पहले था, नहीं रहा था, तथापि लारेंस साहब को राजमाता जिंदा के बहुत से कामों मे संदेह होने

लगा। एक चिट्ठी में रेजीडेंट साहब ने लिखा था—"महारानी समय समय पर पंद्रह बीस सरदारों को घर में निमंत्रण करती हैं। कोई कोई सरदार गुप्त भाव से उनके साथ मुलाकात भी करता है। गत मास से महारानी नित्य राजभवन में पचास ब्राह्मणों को भोजन कराती हैं और स्वयं उनके पाँव धोती हैं। परमंडल में सौ ब्राह्मणों के भेजने की भी खबर सुनी जाती है। मेरे ऊपर महाराज रणजीतसिंह के परिवार की मान मर्यादा का भार है। इसलिये कहना पड़ता है कि ये सब कार्य्य महारानी के गौरव के लिये हानिकारक हैं। महारानी आगे से अपनी सखी सहेलियों, दास दासियों के अतिरिक्त और किसी से मुलाकात न करें, यदि उनकी इच्छा दरिद्रों तथा ब्राह्मणों को खिलाने की हुआ करे तो प्रति मास की प्रथम तिथि अथवा और किसी शास्त्र सम्मत दिन को वैसा कर लिया करें"। पंजाब-केसरी रणजीतसिंह की अर्द्धांगिनी महारानी जिंदा ने बिना किसी आपत्ति के रेजीडेंट साहब की इस आज्ञा को शिरोधार्य्य किया।

पर न मालूम रेजीडेंट साहेब को महारानी जिंदा के प्रत्येक कार्य्य में क्यों संदेह होने लगा था। महारानी की एक सहेली ने मुलतान से एक सफेद गन्ना लाकर महारानी को भेंट किया था। रेजीडेंट साहेब समझने लगे कि इस गन्ने के बहाने महारानी, मुलतान के दीवान मूलराज से अंग्रेजों के विरुद्ध षड्‌यंत्र रच रही हैं। दुर्भाग्यवश इस बीच में एक और घटना हुई कि किसी व्यक्ति ने राजा चेतसिंह की हत्या करने का षड्‌यंत्र रचा। इसमें भी महारानी का संबंध समझा गया। परंतु गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंज ने इसके समान नीरक्षीर-विवेक अर्थात् दूध का दूध और पानी का पानी न्याय कर दिया।

उनके न्याय से महारानी इस कलक से मुक्त हुईं। अंत में महारानी पर यह कलंक लगाया गया कि वे बालक महाराज दलीपसिंह को बिगाड़ती हैं। कम्बख्ती के मारे जिस दिन राजा तेजसिंह को राजटीका होने वाला था, उस दिन महाराज दलीपसिंह दरबार में देरी से आए और तेजसिंह के टीका करने के लिये अनुरोध करने पर उन्होंने उसे स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। बस बालक दलीप का यह कार्य्य भी महारानी जिंदा का ही उत्पात समझा गया। बालक दलीप को कुशिक्षा देने के कारण महारानी जिंदा, लाहौर से प्रायः साढ़े बारह कोस दूर शिकोहपुर किले में नजरबन्द की गईं। उन्हें निर्वाह के लिये चार हजार रुपया मासिक नियत हुआ।

थोड़े दिन पीछे लार्ड हार्डिंज की लाटगिरी की मियाद पूरी हो गई। लार्ड डलहौजी भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल हो कर आए। इतिहास प्रेमी पाठक लार्ड डलहौजी के नीति से परिचित ही हैं। उसी समय लाहौर के रेजीडेंट सर लारेंस भी भारतवर्ष से बिदा हो गए। उनके स्थान पर सर फ्रेडरिक करी पंजाब के नए रेजीडेंट हुए। यह नया प्रबंध होते ही पंजाब में विद्रोह मच गया। यह विद्रोह लाहौर दरबार के अधीन राज्य मुलतान निवासियों का था। सन् १८४७ में मुल्तान के दीवान मूलराज ने लाहौर में आकर अपनी दिवानगिरी का त्यागपत्र दे दिया। उसने अपने त्यागपत्र देने के दो कारण बतलाए कि पहले से अधिक मालगुजारी ले जाने के कारण मालगुजारी वसूल करने में अड़चन होती है, दूसरे मुल्तान के दीवानी और फौजदारी मामलों की लाहौर दरबार में अपील होने के कारण उसका मुलतान में प्रभाव बहुत कम हो गया है। ये दो कारण बतला कर मूलराज ने दीवानगिरी से अपने

अलग होने की प्रार्थना की। इसके साथ ही उसको एक और प्रार्थना थी कि गुजारे के लिये उसे कुछ जागीर दी जावे। उन दिनों सर लारेंस के चले जाने पर उनके छोटे भाई जान लारेंस लाहौर के स्थानापन्न रेजीडेंट हुए थे। उन्होंने मूलराज को समझा बुझा कर मुलतान को लौटा दिया और कहा—"जब राज्य के कर्मचारी मात्र को राजसेवा से अलग होते समय कुछ न कुछ पुरस्कार अवश्य मिलता है, तब आपको निराश होने का कुछ कारण नहीं है"। मुलतान पहुँच कर मूलराज ने अपने पद का परित्याग कर दिया। इस बीच में लाहौर के नए रेजीडेंट नियुक्त हुए जिनके समय में दीवान की दशा "नमाज छोड़ने गए और रोजे गले पड़े" वाली हुई। मूलराज को पुरस्कार से पुरस्कृत करना तो दूर रहा, उलटा बेचारे से पिछले दस वर्ष का हिसाब माँगा गया। वाँस अगन्यू तथा लेफ्टिनेंट ऐंडर्सन साहब के अधीन कुछ सेना के साथ * सरदार कान्हसिंह को दीवान नियत करके भेजा गया। मूलराज ने इनका अच्छी तरह स्वागत किया और मुलतान का दुर्ग नए दीवान को खुशी खुशी सौंप दिया, सब स्थानों की चाभियाँ दे दीं; पर पिछले दस वर्ष के हिसाब देने में आपत्ति की, किंतु जब वाँस अगन्यू और ऐंडर्सन दुर्ग से बाहर निकले, उस समय किसी हत्यारे ने उनको घायल कर दिया। यद्यपि मूलराज उस समय साहबों की रक्षा नहीं कर सका तथापि उसने अपने साले रंगराम के द्वारा साहबों को उनके डेरे में पहुँचा दिया। मूलराज स्वयं साहब लोगों के

---

* किसी किसी इतिहास-लेखक ने सरदार खान बहादुर खाँ लिखा है।

पास जाने को तैयार था, किन्तु किसी ने इस बीच में उसके साले रंगराम को घायल कर दिया। इस घटना से मूलराज के एक दम ही विचार पलट गए। उसने भी विद्रोहियों का साथ दिया। विद्रोहियों ने दो अंग्रेजों को मार डाला तथा नए दीवान को उसके पुत्रों सहित गिरफ्तार कर लिया। विद्रोहियों ने चारों ओर खून खराबी मचा दी, दूर दूर से सिक्ख लोग मूलराज के झंडे के तले युद्ध कामना के लिये इकट्ठे हो गए। गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी तथा पंजाब के रेजीडेंट ने इस विद्रोह के दमन की कुछ चिंता नहीं की। वे उपेक्षा करते रहे; पर लेफ्टनेंट एडवर्डस साहब ने बहावलपुर के नवाब की सहायता से इस विद्रोह के दमन की चेष्टा की। विद्रोहियों और एडवर्डस साहब की सेना का कितने ही स्थानों में युद्ध होता रहा; पर एडवर्डस साहब को रेजीडेंट की ओर से शीघ्र सहायता न मिलने के कारण यह विद्रोह और भी बढ़ने लगा। मूलराज को अपनी शक्ति बढ़ाने और किले को दृढ़ करने का अवसर मिल गया।

मुल्तान-विद्रोह के अतिरिक्त और भी कई ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनसे अशांति रूपी दावानल बढ़ता ही चला गया। लाहौर से बारह कोस की दूरी पर शिकोहपुर दुर्ग में राजमाता जिंदा के नजरबंद होने का समाचार पाठक पहले ही पढ़ चुके हैं। राजमाता जिंदा को नजरबंद करना सिक्खों को पहले से ही खटक रहा था कि नए रेजीडेंट ने विद्रोह होने के कारण कुछ और भी कड़ाई की। इसी बीच में राजमाता की किसी गुप्त साजिश का पता लगा, जिससे उसके एक वकील गंगाराम और एक सिक्ख कर्मचारी कान्हसिंह को फाँसी दी गई।

* राजमाता महारानी जिंदा को देश निकाले की सजा दी गई। वे बनारस में मेजर मकग्रर की अधीनता मे नजरबंद की गईं। इस घटना से सिक्खों में घोर असंतोष फैला, यहाँ तक कि कई अंग्रेज इतिहासलेखकों ने भी महारानी के देशनिकाले पर खेद प्रकट करते हुए लिखा है कि इस घटना से सिक्ख समाज और पंजाबनिवासी अत्यंत मर्म्माहत हुए थे। उस समय पंजाब के रेजीडेंट मिस्टर करी ने भी बड़े लाट को खालसा सेना में इस घटना से अशांति रूपी दावानल प्रज्वलित होने की बात लिखी थी। इस प्रकार अत्यत दुःख और भय से कातर हो कर अपना कलेजा थाम कर सिक्खों ने अपनी अधिष्ठात्री देवी का विसर्जन देखा।

मुलतानियों का पूरी तरह से दमन न होना और राजमाता महारानी जिंदा का देश निर्वासन होना इन दो घटनाओं ने ही रणोन्मत्त सिक्ख सेना मे अशांति रूपी ज्वाला प्रज्वलित कर दी थी। हजारा विद्रोह ने इसको और भी सहायता पहुँचाई। हजारा के बूढ़े सरदार छत्रसिंह जो अंग्रेजों के पहले परम भक्त थे बिगड़ उठे। उक्त सरदार छत्रसिंह के पुत्र शेरसिंह दरबारी सेना के सेनापति थे। सरदार छत्रसिंह के विद्रोह करने के दो कारण

---

* कुछ लोगों ने महारानी जिंदा पर जिसका दूसरा नाम चंदा था, चरित्र संबंधी बहुत से कलंक मढ़े हैं। परतु अन्य कई इतिहास-लेखकों ने महारानी के चरित्र पर किसी प्रकार का कलंक नहीं लगाया है। संभव है कि महारानी के हाथ में थोड़े दिनों राजशक्ति रहने के कारण कुछ लोगों ने महारानी पर ऐसे व्यर्थ कलक लगाए हों।

थे, एक तो यह कि उनकी कन्या का विवाह महाराज दलीपसिंह के साथ पक्का हो चुका था। छत्रसिंह चाहते थे कि विवाह का दिन नियत हो जाय; पर किसी कारणवश वह नियत नहीं होने पाया। दूसरा कारण यह था कि छत्रसिंह जिस हजारा भूमि के शासनकर्त्ता थे वहाँ प्रचंड मुसलमानों की बस्ती थी। सिक्ख और मुसलमानों की सदैव से लाग डाँट चली आती है, जो कभी एकदम दूर नहीं हो सकती है। उन्हीं मुसलमानों ने उत्पात मचाया। लाहौर के रेजीडेंट ने कप्तान एबट को विद्रोह दमन करने के लिये, छत्रसिंह की सहायता को भेजा। एबट साहब के व्यवहार से छत्रसिंह और उनके साथी प्रसन्न नहीं हुए और थोड़े दिन पीछे * एबट साहब को छत्रसिंह ही विद्रोही प्रतीत होने लगे। बस एबट साहब और छत्रसिंह की अनबन से यह नया विद्रोह खड़ा हो गया। रेजीडेंट ने कप्तान और सरदार दोनों ओर से पारस्परिक झगड़े के संबंध में उत्तर माँगा; पर

---

* एबट साहब ने छत्रसिंह को दोषी बतलाया, पर रेजीडेंट की दृष्टि में छत्रसिंह निर्दोष थे। रेजीडेंट साहब ने लिखा था—छत्रसिंह वृद्ध और असमर्थ है। जिन दिनों पंजाब में खालसा की प्रधानता थी, उन दिनों छत्रसिंह को जितनी हानि सहन करनी पड़ी थी, उतनी और किसी को नहीं सहन करनी पड़ी थी, परंतु अंग्रेजी राज्य में उनकी और उनके पुत्रों की उन्नति देखकर बहुत लोग उनसे ईर्षा द्वेष रखते हैं। यह द्वेष उनकी पुत्री की दलीपसिंह से सगाई हो जाने से और भी बढ़ गया है। सर्वसाधारण पंजाबियों पर उनका अधिक प्रभाव नहीं है"।

भावी प्रबल होती है, होनहार को कौन मेट सकता है? कहा भी तो है कि मनुष्य विचारों के पुल बाँधता है पर परमेश्वर उसको ढाह देता है। अंत में एबट साहब और छत्रसिंह को यहाँ तक अनबन हुई कि बूढ़े सरदार छत्रसिंह की सूखी हड्डियों में खून उबल आया। उसने भी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। मनुष्य के विचार परिवर्तन होने में देर नहीं लगती है। तनिक तनिक सी घटनाओं से विचार पलट जाते हैं। संदेह की भित्ति बड़े बड़े विचारशील महापुरुषों के चित्त डाँवाडोल कर देती है, बड़े बड़े राजपाट उलट देती है; शृंगार के सुन्दर समय में वैराग्य-दृश्य उपस्थित कर देती है। इस संदेह के वशीभूत होकर मनुष्य कभी कभी आत्मघात तक कर डालता है। जब ही तो लोग कहा करते हैं कि वहम की दवा लुकमान हकीम के पास भी नहीं है। इस वहम के पुतले ने ही बूढ़े सरदार छत्रसिंह और कप्तान एबट में अनबन करा दी। यदि कप्तान एबट अपने संदेह को दूर कर लेते तो छत्रसिंह को बागी न होना पड़ता; पर इसमें छत्रसिंह तथा कप्तान एबट का दोष ही क्या है? होनी प्रबल होती है। मनुष्य अपने विचारों का दास होता है। अपने अपने विचारों के अनुसार ही कप्तान और सरदार दोनों ने कार्य्य किया।

---

(६) रणचंडी का पुनः नृत्य

"समर साध तन पुलकित नित साथी मम कर को
रन महँ बारहिं बार परछियो जिन बल पर को
बिगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत
* देश कष्ट सों दुखिहु मोहि रनहित उमगावत"

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

मुलतान में दीवान मूलराज के विद्रोह की आग बुझो ही नहीं थी कि हजारा में भी कप्तान एबट और बूढ़े सरदार छत्रसिंह की आपस की अनबन के कारण विद्रोह रूपी आग सुलग उठी। जिस तरह से अग्नि की चिनगारी रुई के बड़े से बड़े ढेर को भस्म करने के लिये पर्य्याप्त होती है, वैसे ही हजारा की घटना से समस्त पंजाब में अशांति की प्रचंड ज्वाला उत्पन्न हो गई। जिधर देखो, उधर युद्ध की चर्चा होने लगी। "वाह गुरुजी का खालसा" "वाह गुरुजी की फ़तेह" का सिंहनाद करते हुए सिक्खगण बूढ़े सरदार छत्रसिंह की अधीनता में इकट्ठे होने लगे। चारों ओर पंजाब में नया उत्साह, नई उमंग दिखलाई देने लगी; पर इतने पर भी समस्त सिक्ख अंग्रेजों के विरोधी नहीं थे। उनमें से बहुत से दूरदर्शी सिक्खों को यह अनुमान हो चुका था कि भारतवर्ष का भविष्य अंग्रेजों के हाथ में है। सन् १८४८ ई० के आरंभ में साहबदयाल नामक एक सिक्ख ने अंग्रेजों के एक विद्वेषी महाराजसिंह नामक विद्रोही को दमन किया। महाराजसिंह की अधीनता में पाँच

---

* मूल कविता में देश के स्थान पर मीत शब्द है।

हजार सिक्खों ने कटने मरने की प्रतिज्ञा की थी। परंतु साहब-दयाल ने अपने बल विक्रम के कारण महाराजसिंह के साथियों का दमन किया। दीवान दीनानाथ हजारा के विद्रोह को दमन करने की चेष्टा कर रहा था। हजारा के सरदार छत्रसिंह का पुत्र शेरसिंह तक अंग्रेजों के पक्ष में था। वह मुलतान के दीवान मूलराज से लाहौर सरकार की ओर लड़ रहा था। मूलराज ने अपना एक दूत शेरसिंह के पास भेजा और उसके द्वारा यह सदेश भेजा कि शेरसिंह अंग्रेजों का साथ न दे कर उसका साथ दे। शेरसिंह ने मूलराज के दूत का मुँह काला करवा के उसे अपने यहाँ से निकाल दिया। इस समय तक शेरसिंह सच्चे दिल से अंग्रेजों के साथ थे; पर अनेक अंग्रेजों को शेरसिंह के संबध में सन्देह होने लगा था। परंतु मेजर एडव-र्डस ने, जिनके साथ शेरसिंह युद्ध में था, एक बार नहीं कई बार स्पष्ट लिखा था कि "शेरसिंह से बढ़ कर दूसरा और कोई अंग्रेजों का भक्त नहीं है"। कप्तान एबट द्वारा अपने पिता पर घोर अत्याचार होने पर भी शेरसिंह अंग्रेजों की सहायता करने से विमुख न हुआ, परंतु जब उसने अपने पिता की हजारा जागीर की जब्ती का समाचार सुना; तब उसका मन पलट गया। अंग्रेजों के विरुद्ध उसने हथियार उठा ही लिया। पहले शेरसिंह मुलतान के दीवान मूलराज के साथ मिलने के लिये गया, पर मूलराज को शेरसिंह का विश्वास धर्मग्रंथ छू कर शपथ खाने पर भी नहीं हुआ। शेरसिंह ने अपने पिता से मिल कर हजारों सिक्खों को इकट्ठा करके अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया।

इधर अंग्रेज भी निश्चिंत नहीं थे, कई छोटे मोटे युद्ध हो जाने के पश्चात् २२ वीं जनवरी सन् १८४९ को मूलराज ने

अंग्रेजों के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया। आत्मसमर्पण करने पर मूलराज कालापानी भेजा गया। छत्रसिंह और शेरसिंह का अंग्रेजों से कई स्थानों में युद्ध हुआ। पहले रामनगर के युद्ध में अंग्रेजी सेना को बहुत कुछ क्षति सहन करनी पड़ी। इसके बाद चिलियानवाला में शेरसिंह ने अपना लश्कर ला खड़ा किया। १३ जनवरी सन् १८४६ के दिन दोनों ओर बड़ा घोर युद्ध हुआ। उस दिन सिक्खों ने अपने अनंत बल विक्रम का परिचय दिया। शेरसिंह के अद्भुत पराक्रम के सामने बृटिश सेना के सेनापति लार्ड गफ़ को हार माननी पड़ी। उस दिन बृटिशसिंह की विजयपताका सिक्खों के हाथ में पहुँच गई। अंग्रेजी तोपें सिक्खों के अधिकार में थीं। बृटिश सेना के घुड़सवार अंग्रेजों के सामने से भाग गए थे, पैदल सेना भी रणक्षेत्र मे डट न सकी। उस दिन सिक्ख सेनापति शेरसिंह की तोपों की विकट गर्जन से चारों दिशाएँ गूँज गईं।

जिन्होंने अलौकिक रणवीर नेपोलियन बोनापार्ट का दर्प दमन किया था, जिन्होंने अनुपम युद्ध नेपोलियन बोनापार्ट के गौरव को मिट्टी में मिला दिया था, उस दिन उनको भारतवर्षीय वीर शेरसिंह के अनुपम बल विक्रम, अद्‌भुत वीरता और अलौकिक रणकौशल को देख कर चकित स्तंभित होना पड़ा था। अनेक इतिहासलेखकों ने चिलियानवाला के युद्ध का वृत्तांत लिखते समय मुक्तकंठ से सिक्ख वीरों की वीरता का यशगान किया है। पर विजयलक्ष्मी सिक्खों से प्रसन्न नहीं थी। सिक्ख साम्राज्य का सूर्य गगनमंडल में छिप चुका था। सिक्खों की स्वाधीनता के दिन पूरे हो चुके थे। लगातार युद्ध से अनेक सिक्ख वीर महानिद्रा की गोद में अनंत कीर्ति छोड़ कर शयन करने लगे। गुजरात के युद्ध में शेरसिंह का

सौभाग्य सितारा अस्त हो गया, अंग्रेजों की विजय हुई, सिक्ख हार गए। अनुपम वीरता, अलौकिक साहस, अद्भुत धैर्य का परिचय दे कर शेरसिंह ने सोलह हजार सिक्खों के साथ, १४ वीं फरवरी सन् १८४६ को अंग्रेजों के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया। हार जाने पर भी सिक्ख सरदार तेजसिंह और उनके साथियों ने वीरोचित तेजस्विता का विसर्जन नहीं किया। सिक्ख सरदार ने बृटिश सेनापति सर वाल्टर गिल-वर्ट साहब के दाहिनी ओर खड़े हो कर आत्मसमर्पण करते हुए कहा था—"अनेक अत्याचारों के कारण हमने यह युद्ध किया था। देश की रक्षा के निमित्त अपनी शक्ति भर युद्ध हमने किया। अब हमारी वह दुर्दशा हो गई है कि हमारी सेना के योद्धा रण की वीर शैय्या पर सो गए हैं। हमारी तोपें, हमारे अस्त्र शस्त्र हमारे हाथ से निकल गए हैं। हम इस समय अनेक प्रकार के अभावों के कारण आत्मसमर्पण करते हैं। हमने जो कुछ किया है, उसके लिये हमें कुछ पश्चाताप नहीं है, हमने जो कुछ किया है शक्ति होने पर कल भी वही करेंगे"। इतना कह कर सब सिक्ख सरदारों ने एक एक करके अपने हथियार भूमि पर रख दिए। फिर सब वीरों ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"आज महाराज रणजीतसिंह की यथार्थ मृत्यु हुई"। इस भाँति दूसरा सिक्ख युद्ध—यदि यह * दूसरा

---

* इतिहास में यह दूसरा सिक्ख युद्ध प्रसिद्ध है, पर वास्तव में यह दूसरा सिक्ख युद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लाहौर दरबार का इस युद्ध से साक्षात् संबंध नहीं था। अंग्रेजों द्वारा संग-ठित सभा में अकेले शेरसिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठाया

सिक्ख युद्ध कहा जा सकता है—समाप्त हुआ। छत्रसिंह, शेरसिंह आदि कैद करके कलकत्ते भेजे गए।

था। इसके अतिरिक्त एक सभासद पर कुछ सदेह था, शेष सभासद संधि की रक्षा कर रहे थे। लाहौर दरबार की कुछ सेना भी अंग्रेजों के साथ थी।

(१०) विषवृक्ष का फल

जगत में घर की फूट बुरी ।
घर के फूटहिं सो बिनसाई सुवरन लंकपुरी ॥
फूटहिं सों बन कौरव नासे भारत युद्ध भयो ।
जाको घाटो या भारत में अब लौं नहिं पुजयो ।
फूटहिं सो जयचंद बुलायो जवनन भारतधाम ।
जाको फल अब लौं भोगत सब आरज होइ गुलाम ॥
फूटहि सो नव नंद बिनासे गयो मगध को राज,
चंद्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपुन से सह साज ॥
जो जग में धन मान और बल अपुनो राखन होय ।
तो अपुनो घर मैं भूलेहु फूट करौ मति कोय ॥

भारतेंदु हरिश्चंद्र

कहते हैं, सिक्खों के अंतिम गुरु महाराज गोविंदसिंह ने एक दिन अपने सब शिष्यों को इकट्ठा करके, भोजन के अच्छे अच्छे पदार्थ पहले बनवाए, पीछे शिष्यों को आज्ञा दी कि—"ये पदार्थ तुम लोग खुद न खा कर मैदान में कुत्तों के सामने रख दो। आज का भोजन कुत्तों को खिलाओ।" गुरु गोविंदसिंह की इस आज्ञा का तुरंत पालन किया गया। सिक्खों ने देखा कि कुत्ते शांतिपूर्वक न खा कर आपस में लड़ रहे हैं जिससे खाने की चीजें नष्ट हो रही हैं, और दूसरे जानवर खा रहे हैं। कुत्तों की यह दशा देख कर गुरु गोविंदसिंह ने अपने अनुयायियों को एक सारगर्भित उपदेश दिया था, जिसका सारांश यह था कि—"क्या देखते नहीं हो! आपस की फूट से

कुत्तों की कैसी दुर्दशा हो रही है। इस दुर्दशा का कारण, कुत्तों में संघशक्ति का अभाव है। कुत्ता एक ऐसी जाति है, जो अपने स्वार्थ के सामने अपनी जाति का स्वार्थ नहीं देखता है। आपस की फूट, केवल अपना स्वार्थ ही, अधःपतन का कारण हुआ करता है। यदि तुम अपना अभ्युदय चाहते हो, तो इस स्वार्थ को, इस फूट को तिलांजलि दो।" वास्तव में गुरु गोविंदसिंह का यह कथन सत्य ही था। जब तक सिक्ख जाति गुरु गोविंदसिंह के कथन के अनुसार चलती रही तब तक सिक्ख जाति का अनेक विघ्न बाधाओं को पार करके बराबर अभ्युदय होता रहा, पर जब सिक्ख जाति गुरु गोविंदसिंह की इस शिक्षा को भूल गई तभी उसका अधःपतन होने लगा, यहाँ तक कि इस फूट और स्वार्थ के कारण सुवर्णमय सिक्ख साम्राज्य मिट्टी में मिल गया, पंजाब की स्वाधीनता लुप्त हो गई।

गुजरात युद्ध के बाद लार्ड डलहौजी ने पंजाब में इलियट साहब को प्रतिनिधि रूप से लाहौर भेज दिया। सर फ्रेडरिक करी साहब फिर रेजीडेंट हुए थे। इलियट साहब ने उनके साथ मिल कर २८ वीं मार्च सन् १८४६ को महाराज दलीपसिंह से अपना राज्य बृटिश कंपनी के हाथ में समर्पण करने का अनुरोध किया। उसके दूसरे दिन २६ वीं मार्च को अंतिम दरबार हुआ। दलीपसिंह उस दिन अंतिम बार अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठे। पास ही पंक्ति बाँधे अस्त्र शस्त्र सहित बृटिश सेना खड़ी थी। दीवान दीनानाथ ने पंजाब की स्वाधीनता हरण न करने के विषय में बहुत कुछ निवेदन किया। संधि के नियम दिखाकर सिक्ख राज्य की स्वाधीनता को स्थिर रखने के लिए बहुत-सी बातें कहीं, पर कुछ फल न

हुआ। लार्ड डलहौजी की स्वाहानीति के सामने सब बातें व्यर्थ हुईं। डलहौजी के घोषणा पत्र पढ़े जाने पर दरबार समाप्त हो गया। उसी समय पंजाबकेसरी रणजीतसिंह के किले पर बृटिश विजयपताका फहराने लगी। * महाराज रणजीतसिंह का यह वाक्य कि "एक दिन सब लाल हो जावेगा", पूरा हुआ। भारतवर्ष का मानचित्र लाल रंग में रंग गया। महाराज दलीपसिंह पंजाब से हटा दिए गए। फतेहगढ़ उनके रहने के लिये निश्चित किया गया। † उनकी निज संपत्ति पर भी गवर्नमेंट का अधिकार हुआ। विद्रोहियों ने विद्रोह मचा कर, अबोध बालक दलीपसिंह का राज्य हरण करा दिया। काल की भी कैसी कुटिल गति है कि जो बालक दलीपसिंह आज पंजाब के नरनाथ थे, असंख्य नर नारियों के भाग्य के विधाता

---

* एक दिन रणजीतसिंह ने भारतवर्ष का नक़शा देखते हुए पूछा कि यह लाल रंग क्या है? उत्तर मिला कि जहाँ-जहाँ अंग्रेजों का अधिकार है, वह लाल रंग से रंगा हुआ है। रणजीतसिंह उस समय कह उठे कि सब लाल हो जावेगा।

† दलीपसिंह ने स्वयं लिखा है कि उनकी एक खास संपत्ति से ही ढाई लाख रुपये साल की आमदनी होती थी, नमक की खान से साल में ४ लाख रुपया मिलता। इसके सिवाय, आभूषण, वस्त्रादि थे जिनको गवर्नमेंट ने बेच डाला। सन् १८५७ के सिपाही युद्ध में दलीपसिंह के निवासस्थान फतेहगढ़ में कम से कम ढाई लाख रुपये की हानि हुई थी। सरकार उसके लिये ३० हजार रुपया देना चाहती थी परंतु दलीपसिंह ने वह नहीं लिया।

थे, कल वे ही अपना सर्वस्व गँवा कर राजपथ के भिखारी की हैसियत को पहुँच गए। हे काल! तेरी कुटिल गति से पार पाना असंभव है।

जिस जगत्प्रसिद्ध, देववांछनीय कोहेनूर हीरे को महाराज रणजीतसिंह सदैव अपनी भुजा में धारण करते थे, उसको डलहौजी साहब ने "पाँच जूती" मूल्य दे कर उनके पुत्र दलीपसिंह से ले लिया। * उसके पश्चात् कोहेनूर स्वर्गीय महारानी विक्टोरिया के मुकुट की शोभा बढ़ाने लगा, जो अब तक बृटिश राजमुकुट की शोभा बढ़ा रहा है।

पंजाब के राजसिंहासन से दलीपसिंह को हटाते समय निश्चय हुआ था कि दलीपसिंह और उनके परिवार के लिये वार्षिक वृत्ति कम से कम चार लाख और अधिक से अधिक पाँच लाख मिला करेगी, परंतु राज्य छूटने के बाद दलीपसिंह पहले एक लाख बीस हजार रुपए सालाना पाते थे और सात वर्ष के बाद वह डेढ़ लाख सालाना कर दिया गया था। फिर सन् १८५८ ई० में दलीपसिंह को ढाई लाख रुपया वार्षिक देने का प्रबंध हुआ था। पर अनेक कारणों से इन रुपयों में से फिर प्रति वर्ष सत्तर हजार रुपये से भी अधिक कम हो जाता था। इस प्रकार पंजाबकेसरी महाराज रणजीतसिंह के पुत्र ने एक समय अंग्रेज गवर्नमेंट से एक लाख अस्सी हजार से भी कम पाया है।

---

* कोहेनूर का मनोरंजक वृत्तांत पीछे लिखा जा चुका है। कहते हैं, एक दिन एक राजदूत ने महाराज रणजीतसिंह से कोहेनूर का मूल्य पूछा पर महाराज ने हँस कर उत्तर दिया कि इसका मूल्य पाँच जूती है।

राज्य से हटाये जाने के समय दलीपसिंह ग्यारह वर्ष के थे। उस समय सर जान लजिन् उनके शिक्षक नियत हुए थे। सन् १८५३ में फतेहगढ़ में एक ईसाई पादरी ने उन्हें खीष्ट धर्म की दीक्षा दी थी। इसके एक वर्ष बाद दलीपसिंह इंगलैंड चले गए * और महारानी जिदा भी जिनके निर्वासन होने से

* इंगलैंड में पहले दलीपसिंह स्थायी रूप से रहना नहीं चाहते थे, पर पीछे वृटिश गवर्मेंट की प्रसन्नता के लिये उन्हें वहाँ रहना पड़ा था। बहुत दिनों तक इंगलैंड में रहने पर दलीपसिंह ने अपने देश में रहना चाहा, ब्रिटिश गवर्मेंट ने भी इसकी आज्ञा दे दी परतु यह निश्चय हुआ कि दलीपसिंह अपने इच्छानुसार अपने देश के किसी स्थान में न जा सकेंगे, उनको गवर्मेंट की नजरबंदी में रहना पड़ेगा। यह बात पक्की हो गई, परतु हतभाग्य दलीपसिंह इतने पर भी भारतवर्ष में न आ सके। एडेन तक आकर उनको इंगलैंड के कर्त्ताधर्त्ताओं की आज्ञा से विलायत को लौटना पड़ा। अंत में अनेक प्रकार से हताश होकर, वे फ्रास पहुँचे। वहीं एक होटल में उनकी मृत्यु हुई। दलीपसिंह ने खीष्ट मतावलम्बी एक मित्र देश की स्त्री से अपना विवाह किया था जिससे उन्हें कई संतानें भी हुईं। सन् १९०७ में दलीपसिंह की दो लड़कियाँ लाहौर आई थीं। दलीपसिंह ने भारतवर्ष को लौटते समय, इंगलैंड से अपनी जन्मभूमि पंजाब के निवासियों और सिक्खों को सम्बोधन करके निम्न आशय का पत्र भेजा था—"प्रियतम देसबासियों! भारतवर्ष में आ कर मेरी रहने की इच्छा नहीं थी, परतु सद्गुरु हम सबके विधाता हैं,

खालसा सेना में अशांति की प्रचण्ड ज्वाला प्रज्वलित हो गई थी। अनेक संकटों का सामना करके बूढ़ी, मलिन मन और

वे हम से अधिक शक्तिमान् हैं। मैं उनका भ्रात जीव हूँ। इंगलैंड छोड़ने की मेरी इच्छा न होने पर भी, मैं उनकी इच्छा से भारतवर्ष में बसने के लिये आ रहा हूँ। मैं सद्गुरु की इच्छा के सामने मस्तक नमाता हूँ। जो अच्छा है वही होगा।

खालसाओ! मैं अपने पूर्वपुरुषों के धर्म को त्याग कर पर धर्म की दीक्षा लेने के लिये आप लोगों से क्षमा माँगता हूँ। परंतु जिस समय मैंने खीष्ट धर्म की दीक्षा ली थी, उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी।

मैं बंबई में पहुँच कर फिर सिक्ख धर्म को ग्रहण करूँगा, बाबा नानक की आज्ञा के अनुसार चलूँगा और गुरु गोविंदसिंह की आज्ञा का पालन करूँगा।

मेरी अधिक इच्छा होने पर भी, मैं पंजाब में आकर आप लोगों से नहीं मिल सकूँगा। इसके लिये आप लोगों को यह लिखने के लिये लाचार हुआ हूँ। भारत साम्राज्य की अधीश्वरी में जो मेरी परम भक्ति है उसका उचित पुरस्कार मैंने पा लिया है, सद्गुरु की इच्छा पूर्ण हो, वाह गुरुजी की फतह।

प्रियतम स्वदेशवासियो—

मैं आपका अपना मांस रक्त,

दलीपसिंह—हूँ।"

प्राय: अंधी होकर इंगलैंड में पुत्र के पास जा पहुँची। १८६३ ई० में सात समुद्र, तेरह नदी पार अपरिचित अज्ञात स्थान में प्राण प्यारे पुत्र के पास, महाराज रणजीतसिंह की महारानी का जीवन्त प्रदीप बुझ गया। इस प्रकार पंजाब की स्वाधीनता के साथ ही साथ पंजाबकेसरी का वंश भी भारतवर्ष से लुप्त हो गया। पर जब तक संसार में इतिहास की मर्यादा है, तब तक बराबर यही प्रश्न होता रहेगा कि बालक दलीपसिंह किस दोष के कारण पंजाब के राजसिंहासन से हटाये गए? जिन्होंने विद्रोह किया था, उन्हें अवश्य ही दंड मिलना चाहिए था, पर बालक दलीपसिंह ने तो कोई अपराध नहीं किया था। उनकी माता जिंदा उस समय लाहौर में नहीं थीं। वे बनारस में बृटिश गवर्नमेंट की नजरबंद थीं। बालक दलीपसिंह की अभिभाविका बृटिश गवर्नमेंट थी। लाहौर दरबार बृटिश गवर्नमेंट के अधीन था। इसलिये इतिहास के न्यायप्रेमी, सत्यप्रेमी विद्यार्थियों के हृदय विचार मे बारबार यही प्रश्न होता है कि दलीपसिंह अपने पैतृक राज्य से क्यों हटाये गए? राजनीति के गूढ़ तत्त्व को जानना अति कठिन है। यह सोचकर इस प्रश्न को यहीं समाप्त करते हुए कहना है कि सिक्खों के पतन का कारण यह है कि कोई भी उच्च विचार समस्त देश पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकता, जब तक वह एक महापुरुष या थोड़े महापुरुषों के हृदयों तक ही परिमित रहता है। यदि आग की चिनगारी को ज्वाला बनाना चाहते हो तो चिनगारी को बढ़ाने के लिये लकड़ी और घास फूस की भी जरूरत हुआ करती है। केवल दो पत्थरों के रगड़ने से ही आग नहीं उत्पन्न होती है। शिवाजी का प्रयत्न निष्फल इसी लिये हुआ, क्योंकि उनके हृदय के ऊँचे भाव सारे देश में नहीं फैल सके थे। यदि कोई सार्व-

दैशिक भलाई का भाव सारे देश में न फैले तो वह लाभदायक होने के बदले हानिकारी होता है। भारतवर्ष के पिछले इतिहास और सिक्ख जाति के इतिहास से भी पता लगता है कि यहाँ शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। परंतु यहाँ के लोगों के अनैक्य के कारण वे स्थिर नहीं रहतीं। वायु के प्रबल झोकों से रेती (जिसमें कण कण जुदे हैं) में बीज आ सकते हैं, पर वे जम नहीं सकते। इसी तरह से हमारे देश मे समय समय पर बड़े आदमी उत्पन्न होकर नवजीवन की चिनगारी जलाते हैं, परंतु धार्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक अनत भेदों से, वह चिनगारी बुझ जाती है और ज्वाला मे परिणत नहीं होती। बस हमारे देश का यही दुर्भाग्य है और इस दुर्भाग्यवश ही रणजीतसिंह ने जो विशाल सिक्ख साम्राज्य स्थापित किया था वह एक क्षण में मटियामेट हो गया। रणजीतसिंह के स्थापित किए हुए विशाल सिक्ख साम्राज्य की यवनिका पतन हो गई। पचनदभूमि में ब्रिटिश विजयपताका फहराने लग गई, भारतवर्ष के इतिहास में एक बड़ा भारी परिवर्त्तन हो गया, जो सदैव इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करता रहेगा।
